

श्रीमद्भृताकलङ्कदेवविरचितस्य  
**स्वविवृतिसहितलघीयस्त्रयस्य**  
**अलङ्कारभूतः**

श्रीमत्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

# न्यायकुमुदचन्द्रः

[ प्रथमो भागः ]



स चायम्

काशीस्थश्रीस्याद्वादमहाविद्यालयस्य न्यायाध्यापकपदप्रतिष्ठितेन  
 जैन-प्राचीनन्यायतीर्थं पं० महेन्द्रकुमारन्यायशास्त्रिणा  
 पाठान्तर-तुलनात्मकटिप्पणी-अवतरणनिर्देशादिभिः संकल्प  
 संशोधितः, संपादितश्च ।

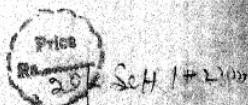


प्रकाशक :—

मन्त्री—श्री नाथूराम प्रेमी,  
**माणिकचन्द्र दि०** जैन ग्रन्थमाला  
 हीराबाग, गिरगाँव, बंबई नं० ४ ।



वीरनिवणिताः २४६४.



विक्रमाब्दाः १६६५.]

प्रथमावृति ६०० प्रति.

[ क्रिस्टाब्दाः १६३८.

# माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

जैनदर्शन-साहित्य-पुण्य-आगमादिप्राचीनसाहित्योदासिका  
जैनग्रन्थावलिः ।

साधुचरित-सदाशय-दानवीर-स्व० सेठ श्री माणिकचन्द्र-हीराचन्द्र जे. पी.  
महाशयानां स्मरणकृते दि० जैनसमाजेन संस्थापिता ।



अवै० मन्त्री— } श्री पं० नाथूरामः प्रेमी, बंबई ।  
} श्री प्रो० हीरालालः M. A. LL. B. अमरावती ।  
कोषाध्यक्षः— श्री ठाकुरदास-भगवान्दासः जवेरी बंबई ।

## ग्रन्थांकः—३८.

प्राप्तिकानम्—

मन्त्री—श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला  
हीराबाग

पो० गिरगाँव, बंबई नं० ४.



NYÂYA-KUMUD-CHANDRA  
OF  
ŚRÎMAT PRABHÂCHANDRÂCHÂRYA

[ VOL. 1. ]

A commentary on *Bhattakalankadevas' Laghiyâstra*.

EDITED WITH :—EXHAUSTIVE ANNOTATIONS, COMPARATIVE STUDY OF  
JAIN, BUDDHIST AND VEDIC-PHILOSOPHIES, AND THE VARIANT  
READINGS ETC.

15440  
BY

PT. MAHENDRA KUMAR NYAYA SHASTRI  
JAIN & PRÂCHIN NYÂYÂTIRTHA,

JAIN-DARŚANÂDHYÂPAK  
SRÎ SYÂDVÂD DIG. JAIN MAHÂVIDYÂLAYA  
KASHI.

JSal  
Pra/Mah

PUBLISHED BY

SECY. PANDIT NATHU RAM PREMI  
MÂNIK CHANDRA DIG. JAIN SERIES,  
HIRABAG, GIRGAON,  
BOMBAY, 4.

V. E, 1995 ]

First Edition, 600 Copies.

[ 1938 A. D.

# MÂNIK CHANDRA DIG. JAIN GRANTHMÂLÂ.

A SERIES PUBLISHING CRITICAL EDITIONS OF CANONICAL, PHILOSOPHICAL,  
HISTORICAL, LITERARY, NARRATIVE ETC. WORKS OF JAIN LITERATURE  
IN PRÂKRITA, SÂMSKRIT AND APABHRÂMÂSHA.

FOUNDED

BY

THE DIG. JAIN SAMÂJA

IN MEMORY OF

Late, Dânvir, Sêth Mânik Chandra Hira Ch.

JUSTICE OF PEACE. BOMBAY.

NUMBER 38

HON. SECRETARIES :—

Pandit Nathu Ram Premi, *Bombay.*

Prof. Hiralal, M.A., LL.B. *Amraoti.*

CASHIER :—

Seth Thakur Das, Bhagwan Das Javery, *Bombay.*

PUBLISHED BY

Secy. MÂNICK CH. DIG. JAIN SERIES

HIRABAG,

Post Girgaon, BOMBAY, 4.

## न्यायकुमुदचन्द्र-प्रथमभाग की विषयसूची.

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
<b>निवेदन</b>	vii-viii	तृतीय परिच्छेद	१४-१६
<b>प्राक्थन</b>	ix-xiii	चतुर्थ परिच्छेद	१६-१७
<b>सम्पादकीय किञ्चित्</b> (सम्पादनगाथा, संस्करणपरिचय, प्रतिपरि- चय, आभारप्रदर्शन आदि)	xiv-xx	पञ्चम परिच्छेद	१७-१९
<b>प्रस्तावना</b>	१-१२६	षष्ठ परिच्छेद	१९-२१
ग्रन्थ परिचय	१-४	सप्तम परिच्छेद	२१-२२
लघुयस्त्रय	१	लघीयस्त्रय के दार्शनिक मन्तब्य	२२-२४
विवृति	४	श्रीमद्भागवतङ्क	२४-११४
न्यायकुमुदचन्द्र	४	प्राक्लंक	२४-२५
ग्रन्थों पर समालोचनात्मक विचार	४-१२	अकलंक नाम के ग्रन्थ विदान्	२५-२६
लघुयस्त्रय सावित्रि	४-७	जन्म भूमि और पितॄकुल	२६-२७
प्रकरणग्रन्थ	४	बाल्यकाल और शिक्षा	२७-३०
रचनाशैली	५	विद्यार्थीजीवन और संकट	३०-३२
लघुयस्त्रय और विवृति में आगत		निष्कलंक ऐतिहासिक व्यक्ति महर्षी	३२-३४
विशेष नाम आदि	६	हंस परमहंस की कथा	३४-३५
न्यायकुमुदचन्द्र	७-१२	शास्त्रार्थी अकलंक	३५-४१
नाम	७	ग्रन्थकार अकलंक	४१-५८
रचना शैली	८	तत्त्वार्थराजवातिक	४३-४४
न्यायकुमुदचन्द्र की इतर दर्शनों		अष्टशती	४५-४६
से तुलना	८-११	लघुयस्त्रय	४६
न्यायदर्शन	८	स्वोपन्न विवृति	४६
प्रभाचन्द्र और मञ्जरीकार जयन्त	१०	न्यायविनिश्चय	४७-४८
वैशेषिकदर्शन	१०	न्यायविनिश्चयवृत्ति	४८-४९
सांख्योग	"	सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति)	५०-५२
वेदान्तदर्शन	१०	प्रमाणसंग्रह	५२-५३
मीमांसादर्शन	"	वृहत्वय	५३-५४
बौद्धदर्शन	११	न्यायचूलिका	५४
वैयाकरणदर्शन	"	स्वरूपसम्बोधन	५४-५५
जैनाचार्य	"	अकलंकस्तोत्र	५५-५७
विषय परिचय	१२-२२	अकलंक प्रतिष्ठापाठ	५७
प्रथम परिच्छेद	१२-१४	अकलंक प्रायशित्त	५७
द्वितीय परिच्छेद	१४	अकलंक का व्यक्तित्व	५८-६०
		जैनन्यायके प्रस्थापक अकलंक	६०-६९
		अकलंकके पूर्व जैन न्यायकी रूपरेखा	६१-६४
		अकलंक और जैनाचार्य	७०-८४

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
कुन्दकुन्द और अकलंक	७०	अर्चट और अकलंक	६७
उमास्वाति और अकलंक	७०	शंकराचार्य और अकलंक	६८
भाष्यकार और अकलंक	७१	वाचस्पति और अकलंक	६८
समत्तभद्र और अकलंक	७१-७२	अकलंक देव का समय	९८-११०
सिद्धेनदिवाकर और अकलंक	७२-७३	समकालीन विद्वान	१११
श्रीदत्त और अकलंक	७३	पुष्यपण और वादीभसिंह	१११-११४
पूज्यपाद और अकलंक	७३	कुमारसेन और कुमारनन्दि	११३
पात्रकेसरी और अकलंक	७३-७६	वीरसेन	११३
मल्लवादि और अकलंक	७६	परवादि मल्लदेव	११३
जिनभद्रगणि और अकलंक	७६-७८	श्रीपाल	११३
हरिभद्र और अकलंक	७८	माणिक्यनन्दि	११३
सिद्धेनगणि और अकलंक	७८	विद्यानन्द	११३
विद्यानन्द और अकलंक	७९	अनन्तवीर्य	११४
माणिक्यनन्दि और अकलंक	७९-८१	प्रभाचन्द्र	११४
वार्तिकार और अकलंक	८१-८२	न्यायकुमुद के कर्ता प्रभाचन्द्र	११४-११७
वादिराज और अकलंक	८२	प्रभाचन्द्र का समय	११७-२३
अभयदेव और अकलंक	८३	प्रभाचन्द्र का बहुश्रुतत्व	१२३
हेमचन्द्र और अकलंक	८३	प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ	१२४
वादिवेद और अकलंक	८३	प्रभेयकमलमार्तण्ड	१२४
विमलदास और अकलंक	८४	न्यायकुमुदचन्द्र	१२४
धर्मशूष्ण और अकलंक	८४	तत्त्वार्थवृत्ति	१२४-१२५
यशोविजय और अकलंक	८४	शाकटायनन्यास	१२५
अकलंक और जीनेतर प्रन्थकार	८४-९८	आत्मनिवेदन, आभार प्रदर्शन	१२५-१२६
पतञ्जलि और अकलंक	९४	प्रस्तावनोपयुक्तप्रन्थसूची	१-२
बमुनन्ध और अकलंक	९४	ग्रन्थसंकेतविवरण	१-८
दिङ्गाम और अकलंक	९५	मूलग्रन्थका विषयानुक्रम	९-८८
धर्मकीर्ति और अकलंक	९५-९८	न्यायकुमुदचन्द्र (मूलग्रन्थ)	१-४०२
भर्तृहरि और अकलंक	९८-९९	श्र० प्रति के पाठान्तर	४०३-४०८
कुमारिल और अकलंक	९९-१३	शुद्धिपत्र	४०८
शान्तभद्र और अकलंक	१३		
धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर और अकलंक	१३-१७		



## निवेदन

माणिक्यचन्द्र जैन ग्रन्थमाला का यह ३८ वाँ ग्रन्थ पाठकों के सामने उपस्थित किया जा रहा है। इस माला को प्रारंभ हुए लगभग २२ वर्ष हो चुके। शुरू से ही मैं इसकी यथाशक्य सेवा कर रहा हूँ। इसके लिए समाज से अब तक लगभग १५-१६ हजार रुपये मिले होंगे जो स्टॉक के रूप में अब भी सुरक्षित हैं; मूलधन में कोई घाटा नहीं है; यदि स्टॉक के मूल्य को मूलधन समझा जाय तो।

जिस समय ग्रन्थ माला का आरंभ हुआ उस समय ग्रन्थों की हस्तालिखित प्रतियाँ प्राप्त करना बहुत कठिन था और उससे भी अधिक कठिन था सम्पादन संशोधन करने वाले योग्य विद्वानों को पा लेना। आधुनिक सम्पादन पद्धति के जानकार परिश्रमी और बहुश्रुत विद्वानों का तो एक तरह से अभाव ही था। इस कारण अब तक प्रकाशन का कार्य बहुत मन्द गति से हुआ और जो कुछ हुआ उससे केवल इतना ही सन्तोष किया जा सकता है कि किसी तरह इतने ग्रन्थ प्रकाश में आ गये, एक समय जो दुर्लभ थे वे सुलभ हो गये, भले ही उनके संस्करण विशेष उत्तम और उपयोगी न हों।

परन्तु अब हस्तालिखित प्रतियाँ प्रयत्न करने से उपलब्ध होने लगी हैं और सुहंद्र प्रो० हीरालाल जी जैन, प्रो० १० एन० उपाध्ये, डॉ० पी० एल० वैद्य, पं० जगदीश-चन्द्र जी शास्त्री, पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, आदि ग्रन्थ-सम्पादन-कार्यदक्ष विद्वानों का भी सहयोग मिलने लगा है, जिससे ग्रन्थ प्रकाशन कार्य स्वूत्र तेजी से किया जा सकता है, करने का उत्साह भी है। परन्तु इधर बीच में ही आर्थिक प्रश्न आकर खड़ा हो गया है, “द्राक्षाप्रपाकसमये मुख्यपाको भवति” वाली बात हो गई है, ग्रन्थ माला का फरेड समाप्तप्राय है और जो कुछ रुपया शेष है, उससे मुश्किल से न्यायकुसुदचन्द्र का द्वितीय खरेड ही प्रकाशित हो सकेगा। महापुराण के उत्तर खरेड (उत्तर पुराण) का काम तो बन्द ही कर देना पड़ा है। यद्यपि मागधी और अपमंश भाषाओं के दिग्गज विद्वान् डॉ० पी० एल० वैद्य महोदय ने अतिशय परिश्रम से उसकी प्रेस-कापी तैयार कर रखी है।

पिछले २२ वर्षों में मैंने कभी यह महसूस ही नहीं किया था कि कभी रुपयों के अभाव में प्रकाशन-कार्य को रोक देना पड़ेगा। क्योंकि-वर्ष में जितना रुपया खर्च होता था, लगभग उतनी बिक्री हो जाती थी और सौ दो सौ रुपया ऊपर से सहायता भी मिल जाती थी। परन्तु इधर हरिवंशपुराण, पद्मचरित, महापुराण, न्यायकुसुदचन्द्र आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों में असुमान से अधिक रुपया लग गया, बिक्री कुछ बढ़ी नहीं और सहायता भी इस समय जितनी मिलनी चाहिए थी उतनी नहीं मिली। ऐसी दशा में तब तक के लिए कार्य संग्रह कर देने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं है जब तक कि ग्रन्थों की बिक्री से अथवा धनियों की सहायता से काम चलाऊ धन एकत्र न हो जाय।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की मंजूरी ग्रन्थमाला की प्रबन्धकारिणी कमेटी से अब से लगभग १६ वर्ष पहले ली जा चुकी थी और उसी समय कुछ प्रेस-कापी भी करा ली गई थी; प्रबल इच्छा थी कि यह महान् ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय; परन्तु यथोष्ट मूल प्रतियों के प्राप्त न हो सकने और सुयोग्य सम्पादक के न मिलने से काम रुक गया और अब इन्हें लम्बे समय के बाद वह इच्छा पूर्ण हो रही है और जिस रूप में हो रही है उसे देखकर कम से कम सुमें तो यथोष्ट सन्तोष है। अद्येत पं० सुखलाल जी के शब्दों में सचमुच ही इस ग्रन्थ के द्वारा दिग्मवरीय साहिल्य में प्रकाशन कार्य का एक नया युग प्रारम्भ होता है। अब तक हमारा एक भी ग्रन्थ इस ढंग से सुसम्पादित होकर प्रकाशित नहीं हुआ है।

जैनसमाज के असाधारण विद्वान् प्रज्ञावक्तु पं० सुखलाल जी के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को इस रूपमें सम्पादित करने के लिए सम्पादकद्वय को उत्साहित किया, अमृक्य सूचनायें दीं, साधन-सामग्री जुटाने में हर तरह से सहायता दी और इस ग्रन्थ के लिए प्राक्थन के रूप में हमारे सम्प्रदाय और उसके साहिल्य के सम्बन्ध में अपने बहुमूल्य विचार उपस्थित किये।

इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है और प्रयत्न किया जा रहा है कि वह यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित हो जाय।

ग्रन्थों के मूल्य के सम्बन्ध में कुछ शुभचिन्तकों ने शिकायत की है कि वह पहले की अपेक्षा ज्यादा रकमा गया है। इसे हम स्कीकार करते हैं; परन्तु इसका कारण एक तो यह है कि पिछले प्रथों के सम्पादन संशोधन और साधन-सामग्री जुटाने में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक खर्च हुआ है, दूसरे संलग्न में भी ये पांच-छह सौ से अधिक नहीं छूपाये गये हैं, तीसरे अब सौ रुपया या इससे अधिक देने वाले सहायकों को प्रत्येक ग्रन्थ की एक एक प्रति बिना मूल्य देने का नियम बन गया है जिससे प्रत्येक ग्रन्थ की लगभग सौ प्रतियाँ यों ही चली जाती हैं। इसके सिवाय दूकानदारों को कमीशन भी देना पड़ता है। ऐसी दशा में लागत बढ़ जाना अनिवार्य है और इससे मूल्य अधिक रखना पड़ता है।

पाठकों को विश्वास रखना चाहिए कि ग्रन्थमाला का उद्देश्य प्राचीन साहिल्य का उद्धार करना है, कमाई करना नहीं; फिर भी यदि ग्रन्थमाला के फण्ड में इस बढ़े हुए मूल्य से कुछ अधिक धन आ जायगा तो वह ग्रन्थोद्धार के कार्य में ही लगेगा।

हीरावाग, वर्षाइ  
३-७-३८ }

निवेदक—  
नाथुराम प्रेमी  
मन्त्री

## प्राक्षिथन

यदि श्रीमान् प्रेमीजी का अनुरोध न होता जिन्हें कि मैं अपने इने गिने दिग्म्बर मित्रों में सबसे अधिक उदार विचार वाले, साम्प्रदायिक होते हुए भी असाम्प्रदायिक हृषिवाले तथा सबी लगन से दिग्म्बरीय साहित्य का उक्तर्पण चाहने वाले समझता हूँ, और यदि न्यायकुमुदचन्द्र के प्रकाशन के साथ थोड़ा भी मेरा सम्बन्ध नहोता, तो मैं इस बक्त शायद ही कुछ लिखता।

दिग्म्बर-परम्परा के साथ मेरा तीस वर्ष पहले अध्ययन के समय से ही, सम्बन्ध शुरू हुआ, जो बाह्य-आभ्यन्तर दोनों हृषि से उत्तरोत्तर विस्तृत एवं घनिष्ठ होता गया है। इतने लंबे परिचय में साहित्यिक तथा ऐतिहासिक हृषि से दिग्म्बर परम्परा के सम्बन्ध में आदर एवं अति तटस्थिता के साथ जहाँ तक हो सका मैंने कुछ अवलोकन एवं चिंतन किया है। मुझको दिग्म्बरीय परम्परा की मध्यकालीन तथा उत्तरकालीन साहित्यिक प्रवृत्ति में एक विरोध सा नज़र आया। नमस्करणीय स्वामी समंतभद्र से लेकर वादिराज तक की साहित्य प्रवृत्ति देखिये और इसके बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति देखिये। दोनों का मिलान करने से अनेक विचार आते हैं। समंतभद्र, अकल्कु आदि विद्वद्रप्य आचार्य चाहे बनवासी रहे हों, या नगरवासी; फिर भी उन सबों के साहित्य को देखकर एक बात निर्विवाद रूप से माननी पड़ती है कि उन सबों की साहित्यिक मनोवृत्ति बहुत ही उदार एवं संग्राहिणी रही। ऐसा न होता तो वे बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा की सब दार्शनिक शाश्वातों के सुलभ दुर्लभ साहित्य का न-तो अध्ययन ही करते और न उसके तत्त्वों पर अनुकूल प्रतिकूल समालोचना-योग्य गंभीर चिंतन करके अपना साहित्य समृद्धरर बना पाते। यह कल्पना करना निराधार नहीं कि उन समर्थ आचार्यों ने अपने त्याग व दिग्म्बरत्व को कायम रखने की चेष्टा करते हुए भी अपने आस पास ऐसे पुस्तक संग्रह किये, कराये कि जिनमें अपने सम्बद्धाय के समय साहित्य के अलावा बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा के महत्वपूर्ण छोटे बड़े सभी प्रथाओं का संचय करने का भरसक प्रयत्न हुआ। वे ऐसे संचय मात्र से भी संतुष्ट न रहते थे, पर उनके अध्ययन अध्यापन कार्य को अपना जीवन-क्रम बनाये हुए थे। इसके बिना उनके उपलभ्य अन्यों में देखा जाने वाला विचार-वैश्यव व दार्शनिक पृथक्करण सम्भव नहीं हो सकता। वे उस विशाल-राशि तत्कालीन भारतीय-साहित्य के चिंतन, मनन रूप दोहन में से नवनीत लैसी अपनी कृतियों को बिना बनाये भी संतुष्ट न होते थे। यह स्थिति मध्यकाल की रही। इसके बाद के समय में हम दूसरी ही मनोवृत्ति पाते हैं। करीब आरहर्वीं शताब्दी से लेकर २० वीं शताब्दी तक के दिग्म्बरीय साहित्य की प्रवृत्ति देखने से जान पड़ता है कि इस युग में वह मनोवृत्ति बदल गई। अगर ऐसा न होता तो कोई कारण न था कि आरहर्वीं शताब्दी से लेकर अब तक जहाँ न्याय, वेदान्त, मीमांसा, अलंकार, व्याकरण आदि विषयक साहित्य का भारतवर्ष में इतना अधिक, इतना व्यापक और इतना सूक्ष्म विचार व विकास हुआ, वहाँ दिग्म्बर-परम्परा इससे विलकुल अद्वृत-सी रहती। श्रीहर्ष, गंगेश, पक्षधर, मधुसूदन, अपवीटीक्ष्ण, जगन्नाथ आदि जैसे नवयुग प्रस्थापक ब्राह्मण विद्वानों के साहित्य से भरे हुए इस युग में दिग्म्बर साहित्य का उससे विलकुल अद्वृत रहना अपने पूर्वचार्यों की मनोवृत्ति के विरुद्ध मनोवृत्ति का सुवृत है। अगर वादिराज के बाद भी दिग्म्बरपरम्परा की साहित्यिक मनोवृत्ति पूर्ववत् रहती तो उसका साहित्य कुछ और ही होता।

कारण कुछ भी हो पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि विकले भट्टारकों और पंडितों की मनोवृत्ति ही बदल गई और उसका प्रभाव सारी परंपरा पर पड़ा जो अब तक सपष्ट देखा जाता है और जिसके चिह्न उपलब्ध प्रायः सभी भाण्डारों, वर्तमान पाठशालाओं की अध्ययन अध्यापन प्रणाली और पंडित-मंडली की विचार व कार्यशैली में देखे जाते हैं।

अभी तक मेरे देखने सुनने में ऐसा एक भी पुराना दिग्म्बर-भाण्डार या आधुनिक पुस्तकालय नहीं आया जिसमें बौद्ध, ब्राह्मण और श्वेताम्बर परम्परा का समग्र साहित्य या अधिक महत्व का मुख्य साहित्य संगृहीत हो। मैंने दिग्म्बर परम्परा की एक भी ऐसी संस्था नहीं देखी या सुनी कि जिसमें समग्र दर्शनों का आमूल अध्ययन चिंतन होता हो। या उसके प्रकाशित किये हुए बहुमूल्य प्राचीन ग्रन्थों का संस्करण या अनुवाद ऐसा कोई नहीं देखा जिसमें यह विदित हो कि उसके सम्पादकों या अनुवादकों ने उन्नी विशालता व तटस्थिता से उन मूल ग्रन्थों के लेखकों की माँति नहीं तो उनके शोषण या सहस्रांश भी श्रम किया हो।

एक तरफ से परम्परा में पाई जानेवाली उदात्त शास्त्रमत्ति, आर्थिक सहूलियत और बुद्धिशाली पंडितों की बड़ी तादाद के साथ जब आधुनिक युग के सुभीति का विचार करता हूँ, तथा दूसरी भारतवर्षीय परंपराओं की साहित्यिक उपासना को देखता हूँ और दूसरी तरफ दिग्म्बरीय साहित्य चेत्र का विचार करता हूँ तब कम से कम मुश्कों तो कोई संदेह ही नहीं रहता कि यह सब कुछ बदली हुई संकुचित या एकदेशीय मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

मेरा यह भी विश्वास है कि हो सके उन्नी त्वरा से दिग्म्बर परम्परा की यह मनोवृत्ति बदल जानी चाहिए। इसके बिना वह न सो अपना ऐतिहासिक व साहित्यिक पुराना अनुपम स्थान संभाल सकेगी और न वर्तमान युग में सबके साथ बराबरी का स्थान पा सकेगी। यह भी मेरा विश्वास है कि अगर यह मनोवृत्ति बदल जाय तो उस मध्यकालीन थोड़े, पर असाधारण महत्व के, ऐसे प्रन्थ उसे विरासत लम्भ दें जिनके बल पर और जिनकी भूमिका के उपर उत्तरकालीन और वर्तमान युगीन सारा मानसिक विकास इस बक्त भी बड़ी सूखी से समन्वित व संगृहीत किया जा सकता है।

इसी विश्वास ने मुझ को दिग्म्बरीय साहित्य के उपादेय उक्तर्थ के बास्ते कर्तव्य रूप से मुख्यतया तीन बातों की ओर विचार करने को बाधित किया है।

( १ ) समंतभट्ट, अकलंक, विद्यानंद आदि के ग्रन्थ इस दंग से प्रकाशित किये जायें जिससे उन्हें पहने वाले व्यापक दृष्टि पा सकें और जिनका अवलोकन तथा संप्रब्ध दूसरी परम्परा के विद्वानों के बास्ते अनिवार्यसा हो जाय।

( २ ) आस्मीमांसा, युक्त्यतुशासन, अष्टशती, न्यायविनिक्षय आदि ग्रन्थों के अनुवाद ऐसी मौलिकता के साथ तुलनात्मक व ऐतिहासिक पद्धति से किये जायें, जिससे यह विदित हो कि उन ग्रन्थकारों ने अपने समय तक की कितनी विद्याओं का परिशोलन किया था और किन किन उपादानों के आधारपर उन्होंने अपनी कृतियाँ रची थीं तथा उनकी कृतियों में सत्रिविष्ट विचार-परंपराओं का आज तक कितना और किस तरह विकास हुआ है।

( ३ ) उक्त दोनों बातों की पूर्ति का एक मात्र साधन जो सर्वसंप्राही पुस्तकालयों का निर्माण, प्राचीन भाण्डारों की पूर्ण व व्यवस्थित खोज तथा आधुनिक पठन प्रणाली में आमूल परिवर्तन है, वह जल्दी से जल्दी करना।

मैंने यह पहले ही सोच रखवा था कि अपनी ओर से बिना कुछ किये औरें को कहने का कोई विशेष अर्थ नहीं। इस दृष्टि से किसी समय आपसीमांसा का अतुवाद मैंने प्रारम्भ भी किया, जो पीछे रह गया। इस बीच मैं सन्मतितर्क के संयादन काल में कुछ अपूर्व दिग्म्बरीय प्रन्थरत्र मुझे मिले, जिनमें से सिद्धिविनिश्चय दीका एक है। न्यायकुमुदचन्द्र की लिखित प्रति जो 'आ०' संकेत से प्रस्तुत संस्करण में उपयुक्त हुई है वह भी श्रीयुत प्रेमीजी के द्वारा मिली। जब मैंने उसे देखा तभी उसका विशिष्ट संस्करण निकालने की वृत्ति बलवत्तर हो गई। उधर प्रेमीजी का तकाज़ा कि मदद मैं यथा संभव कर्ह गए पर इसका सन्मति जैसा तो संस्करण निकाले ही। इधर एक साथ अनेक बड़े काम जिन्मे न लेने की निजी मनोवृत्ति। इस दृढ़ में दश वर्ष बीत गये। मैंने इस बीच दो बार प्रयत्न भी किये पर वे सफल न हुए। एक उद्देश्य मेरा यह रहा कि कुमुदचन्द्र जैसे दिग्म्बरीय ग्रन्थों के संस्करण के समय योग्य दिग्म्बर पंडितों को ही सहचारी बनाऊँ जिससे फिर उस परम्परा में भी स्वावलंबी चक्र चलता रहे। इस धारणा से अहमदाबाद में दो बार अलग अलग से, दो दिग्म्बर पंडितों को भी, शायद सन् १९२६-२७ के आसपास, मैंने बुलाया पर कामयाची नहीं हुई, वह प्रयत्न उस समय वर्ही रहा, पर प्रेमीजी के तकाजे और निजी संकल्प के बश उसका परिपाक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, जिसे मूर्त करने का अवसर १९३३ की जुलाई में काशी पहुँचते ही मुझे दिखाई दिया।

पं० कैलाशचन्द्रजी तो प्रथम से ही मेरे परीचित थे, पं० महेन्द्रकुमारजी का परिचय नया हुआ। मैंने देखा कि ये दोनों विद्वान् कुमुद का कार्य करें तो उपयुक्त समय और सामग्री है। दोनों ने बड़े उत्साह से काम को अपनाया और उधर से प्रेमीजी ने कार्य साधक आयोजन भी कर दिया, जिसके फल स्वरूप यह प्रथम भाग सबके सामने उपस्थित है।

इसे तैयार करने में पंडित महाशयों ने कितना और किस प्रकार का श्रम किया है उसे सभी अभिज्ञ अभ्यासी आप ही आप जान सकेंगे। अतएव मैं उस पर कुछ न कह कर सिर्फ प्रस्तुत भाग गत टिप्पणियों के विषय में कुछ कहना उपयुक्त समझता हूँ।

मेरी समझ में प्रस्तुत टिप्पणियाँ दो दृष्टि से की गईं हैं। एक तो यह कि ग्रन्थकार ने जिये जिस मुख्य और गौण मुद्दे पर जैनमत दर्शाते हुए अनुकूल या प्रतिकूल रूप से जैनेतर बौद्ध ब्राह्मण परम्पराओं के मतों का निर्देश व संप्रह किया है वे मत और उन मतों की पोषक परम्पराएँ उन्हीं के मूलभूत ग्रन्थों से बतलाई जायें ताकि अभ्यासी ग्रन्थकार की ग्रामाणिकता जानने के अलावा यह भी सविस्तर जान सके कि अमुक मत या उसकी पोषक परम्परा किन मूलग्रन्थों पर अबलंबित है और उसका असली भाव क्या है? इस जानकारी से अभ्यासशील विद्यार्थी या पंडित प्रभाचन्द्रवर्गित दर्शनान्तरीय समस्त संक्षिप्त मुद्दों को अत्यन्त स्पष्टता पूर्वक समझ सकेंगे और अपना स्वतन्त्र मत भी बाँध सकेंगे। दूसरी दृष्टि टिप्पणियों के विषय में यह रही है कि प्रत्येक मन्तव्य के तात्त्विक और साहित्यिक इतिहास की सामग्री उपस्थित की जाय जो तत्त्वज्ञ और ऐतिहासिक दोनों के संशोधन कार्य में आवश्यक है।

अगर प्रस्तुत भाग के अभ्यासी उक्त दोनों दृष्टियों से टिप्पणियों का उपयोग करेंगे तो वे टिप्पणियाँ सभी दिग्म्बर श्वेताम्बर न्याय प्रमाण ग्रन्थों के बास्ते एक सी कार्य साधक सिद्ध होंगी। इतना ही नहीं; बल्कि बौद्ध ब्राह्मण-परम्परा के द्वारानिक साहित्य की अनेक ऐतिहासिक गुरुत्वान्वयों को सुलझाने में भी काम देंगी। उदाहरणार्थ—

‘धर्म’ पर की टिप्पणियों को लीजिये। इससे यह विदित हो जायगा कि ग्रन्थकार ने जो जैन सम्मत धर्म के विविध स्वरूप बतलाये हैं उन सबके मूल आधार क्या क्या हैं। इसके साथ साथ यह भी मालूम पड़ जायगा कि ग्रन्थकार ने धर्म के स्वरूप विषयक जिन अनेक मतान्तरों का निर्वेश व खण्डन किया है वे हर एक मतान्तर किस किस परम्परा के हैं और वे उस परम्परा के किन किन ग्रन्थों में किस तरह प्रतिपादित हैं। यह सारी जानकारों एक संशोधक को भारतवर्षीय धर्म विषयक मन्तव्यों का आनन्दशिशा इतिहास लिखने तथा उनकी पारस्परिक तुलना करने की महत्व पूर्ण प्रेरणा कर सकती है। यही बात अनेक छोटे बड़े टिप्पणी के विषय में कही जा सकती है।

प्रस्तुत संस्करण से दिगम्बरीय साहित्य में नव प्रकाशन का जो मार्ग खुला होता है, वह अगे के साहित्य-प्रकाशन में पथ प्रदर्शक भी हो सकता है। राजवार्तिक, तत्त्वार्थीशीकावार्तिक, अष्टसहस्री आदि अनेक उक्तकृत्र प्रन्थों का जो अपकृष्टत्र प्रकाशन हुआ है उसके स्थान में अगे अब कैसा होना चाहिए, इसका नह नमूना है जो माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला में दिगम्बर पंडितों के द्वारा ही तैयार होकर प्रसिद्ध हो रहा है।

ऐसे टिप्पणीपूर्ण ग्रन्थों के समुचित अध्ययन अध्यापन के साथ ही अनेक इष्ट परिवर्तन शुरू होंगे। अनेक विद्यार्थी व पण्डित विविध साहित्य के परिचय के द्वारा सर्वसंग्राही पुस्तकालय निर्माण की प्रेरणा पा सकेंगे, अनेक विषयों के, अनेक ग्रन्थों को देखने की रुचि पैदा कर सकेंगे। अंत में महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के असाधारण-योग्यतावाले अनुवादों की कमी भी उसी प्रेरणा से दूर होगी। संक्षेप में यों कहना चाहिए कि दिगम्बरीय साहित्य की विशिष्ट और महत्वी आन्तरिक विभूति सर्वोपादेय बनाने का युग शुरू होगा।

टिप्पणियाँ और उद्देश जमाने का क्रम ठीक है फिर भी कहीं कहीं ऐसी बात आ गई है जो तदस्थ विद्वानों को अखर सकती है। उदाहरणार्थ ‘प्रमाण’ पर के अवतरण-संग्रह को लीजिये इसके शुरू में लिख तो यह दिया गया है कि क्रम-विकसित प्रमाण-लक्षण इस प्रकार हैं। पर किर उन प्रमाण-लक्षणों का क्रम जमाते समय क्रम विकास और ऐतिहासिकता भुला दी गई है। तदस्थ विचारक को ऐसा देख कर यह कल्पना हो जाने का संभव है कि जब अवतारों का संग्रह सम्प्रदायबार जमाना इष्ट था तब वहाँ क्रम-विकास शब्द के प्रयोग की जरूरत क्या थी?

ऊपर की सूचना में इसलिए करता हूँ कि आवंदा अगर ऐतिहासिक हृषि से और क्रम विकास हृषि से कुछ भी निरूपण करना हो तो उसके महत्व की और विशेष ख्याल रहे। परंतु ऐसी मामूली और अगण्य कमी के कारण प्रस्तुत टिप्पणियों का महत्व क्रम नहीं होता।

अंत में दिगम्बर परम्परा के सभी निधान और उदार पंडितों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे अब विशिष्ट शास्त्रीय अध्यवसाय में लग कर सर्व संग्राही हिंदी अनुवादों की बड़ी भारी कमी को जल्दी से जल्दी दूर करने में लग जायें और प्रस्तुत कुमुदचन्द्र के संस्करण को भी भुला देने वाले अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संस्करण तैयार करें।

विद्याप्रिय और शास्त्रभक्त दिगम्बर धनिकों से मेरा अनुरोध है कि वे ऐसे कार्यों में पंडित-मंडली को अधिक से अधिक सहयोग दें।

न्यायकुमुदचन्द्र के छपे ४०२ पेज, अर्थात् मूल मात्र पहला भाग मेरे सामने है। केवल उसी को देखकर मैंने अपने विचार यहाँ लिखे हैं। यद्यपि जैन-परम्परा के स्थानक वासी और श्वेताम्बर फिरकों के साहित्य तथा तद्विषयक मनोवृत्ति के चढ़ाव उत्तार के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहने योग्य है। इसी तरह ब्राह्मण-परम्परा की साहित्य विषयक मनोवृत्ति के जुदे जुदे रूप भी जानने योग्य हैं। फिर भी मैंने यहाँ सिर्फ दिग्म्बर-परम्परा को ही लक्ष्य में रख कर लिखा है। क्योंकि यहाँ बही प्रस्तुत है और ऐसे संक्षिप्त प्राक्तन में अधिक चर्चा की गुंजाइश भी नहीं।

हिन्दू विश्वविद्यालय  
२६-४-३८

### — सुखलाल संघवी

[ जैनदर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय काशी ।  
भूतपूर्वीचार्य गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद । ]



## सम्पादकीयं किञ्चित्

सम्पादन गाथा—सन् १९३३ के मार्च की बात है, प्रन्थमाला के मन्त्री पं० नाथूरामजो प्रेमी की कुछ ग्रन्थों के अन्वेषणार्थ एक सूचना निकली। उसका उत्तर देना ही इस ग्रन्थ के सम्पादन का श्री गणेश है।

प्रेमीजी की इच्छा रही कि इसका सम्पादन सन्मतितर्क सरीखा महत्वपूर्ण एवं सामग्री-सम्पन्न हो। सौभाग्य से सन्मतितर्क के सम्पादक पं० सुखलाल जी साँ काशी विश्वविद्यालय में जैनदर्शन के अध्यापक होकर आए और वे ही अपने हाथ से प्रेमी जी का वह पत्र लाए जिसमें न्यायकुमुदचन्द्र के सुसम्पादन की खास प्रेरणा थी। मैंने पं० कैलाशचन्द्र जी से सम्बादन में यथाशक्ति सहायता का बधन मिलाने पर सम्पादन कार्य शुरू किया।

पं० सुखलाल जी के नित्योत्साह तथा सुनिश्चित कार्यपद्धति के अनुसार इसका कार्य चालू किया गया। इसी बीच पंडितजी के साथ तत्त्वोपशुवसिंह, प्रमाणमीमांसा, जैनतर्कभाषा तथा ज्ञानविद्वु के सम्पादन में कार्य करने का अवसर मिला। इन ग्रन्थों के सम्पादन निमित्त देखी गई प्रचुर जैन-जैनतर ग्रन्थ राशि का न्यायकुमुदचन्द्र में, तथा न्यायकुमुदचन्द्र के लिए देखे गए ग्रन्थसमुदाय का उत्तमग्रन्थों में खूब उपयोग हुआ। करोर २२५ ग्रन्थों का तो इसी ग्रन्थ की टिप्पणी सङ्कलित करने में उपयोग किया है। जिसमें प्रमाणसंग्रह, सिद्धिविनिश्चयटीका, नय चक्रवृत्ति, न्यायविनिश्चयविवरण, तत्त्वोपशुवसिंह, हेतुविनुटीका जैसे अलग्भ्य लिखितप्रथं तथा प्रमाणवाचिक, वार्तिकालंकार, वादन्याय जैसी उल्लंभ प्रूफ पुस्तकें भी शामिल हैं।

ब० और ज० प्रति में शक्तिनिरुपण के बाद करोर २२ पत्र का पाठ हूदा है। ये पत्र आ० प्रति में अर्ध चृहित थे। इस पाठ की पूर्वि के लिए हमने उत्तर प्रान्तकी आरा, व्यावर, खुरजा, इन्द्रार, ललितपुर आदि स्थानों की प्रतियों की जांच कराई तो मालूम हुआ कि सभी प्रतियों में उक्त पाठ हूदा ही हुआ है। अन्ततो गत्वा भाण्डारकर-प्राच्यविद्यासंशोधन-मनिदर पूना की ताडपत्राली प्रति से उक्त पाठ की पूर्वि करने की ओशा से पूना गया। और वहाँ १ माह रहकर एक कनड़ी जानकार की सहायता से वह २२ पत्र का हूदा हुआ पाठ पूरा करके ग्रन्थ को अखंड किया। पछे से श्रवणवेलगोला से भट्टारक श्री चारकीर्ति द्वारा मेजी गई ताडपत्र की प्रति मिल जाने से उसके पाठान्तर भी ग्रन्थ के इस भाग के अन्त में दे दिए हैं। इस तरह लगातार पाँच वर्ष के सतत और कठिन परिश्रम के बाद प्रस्तुत भाग को संभव-सामग्री-संस्करण बनाने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण और उसकी विशेषताएँ—इस संस्करण में सुदृश मूलग्रन्थ और उसकी व्याख्या साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से जितनी महत्वपूर्ण है उनका संपादन भी उतनी ही तत्परता और संलग्नता से किया गया है और आज कल की सुविधित सम्पादन प्रणालियों पर दृष्टि रखते हुए संस्करण को अधिक से अधिक उपादेय और उपयोगी बनाने की चेष्टा में अपनी दृष्टि से कोई कमी नहीं की गई है। दिग्म्बर साहित्य के अद्यावधि प्रकाशित ग्रन्थों की पिछड़ी हुई दृश्या को देखकर तथा दूसरे दूसरे अच्छे संस्करणों की अवगमिता को ध्यान में रखते हुए हमने इस बात का यह लघुप्रयत्न किया है कि प्रकाशन तथा सम्पादनकेत्र में कुछ

प्रगति हो तथा उसको समग्रता का मापदण्ड कुछ ऊँचा हो। तथा प्रचलित अध्ययन क्रम में परिवर्तन होकर कुछ विशाल दृष्टि उपन्न हो। इसकी सफलता की जांच तो पाठक ही कर सकेंगे। इस संस्करण की विशेषताएँ संक्षेप में निम्न प्रकार हैं।

पाठान्तर—इसके सम्पादन में अति प्राचीन प्रतियों का उपयोग किया गया है और मौलिक पाठान्तर नीचे टिप्पण में दे दिये गये हैं। पाठान्तर देते समय हमारे सामने प्रधानतया दो दृष्टियाँ रहीं हैं—एक अर्थ विषयक और दूसरी लिपिविषयक। अर्थ की दृष्टि से जो पाठ विशेष महत्वपूर्ण प्रतीत हुए उन्हें मूल में दिया है और शेष को टिप्पण में। लिपि-विषयक पाठान्तर पाठकों को यह बतलाने के लिये दिये हैं कि किस तरह लिपिसाम्य से लेखकगण कुछ का कुछ समझ लेते हैं और उनकी यह मूल अर्थ का अनर्थ तो करती ही है; किन्तु पाठान्तरों की भी सुष्ठु कर डालती है। उदाहरण के लिये, 'तद्विस्वकारण' का लिपिदोष से 'तद्विश्वकारण' समझ लिया गया। पाठान्तर को ठीक २ समझने के लिये जिस शैली का अनुसरण किया है उसे जान लेना भी आवश्यक है। पाठान्तर जिस वर्ण से प्रारम्भ होता है उपर उस वर्ण पर ही अंक दिया है। यदि पाठान्तर किसी शब्द का अंश है और उसके प्रारम्भ के, अंत के या दोनों ओर के कुछ वर्ण छोड़ दिये गये हैं, तो उनको बतलाने के लिये नीचे टिप्पण में पाठान्तर के आगे, पीछे या दोनों ओर ढैश लगा दिये गये हैं। यथा 'तद्विश्वकारण' का पाठान्तर 'तद्विश्वकारण' है तो 'तद्विं' के 'त' के ऊपर अंक देकर, नीचे टिप्पण में 'तद्विश्वका' इस रूप में पाठान्तर दिया है। 'का' के आगे का ढैश बतलाता है कि कुछ वर्ण छोड़ दिये गये हैं जो मूल पाठ के ही सदृश हैं।

टिप्पणी—इस संस्करण का सबसे अधिक परिश्रम से तैयार किया भाग इसकी टिप्पणी (Foot note) है। इसके लिये जैन बौद्ध और वैदिक दर्शन के उपलब्ध प्रायः सभी मौलिक ग्रन्थों का यथासंभव उपयोग किया गया है। संस्कृत वाङ्मय के पठन-पाठन में आजकल हम लोगों ने एक दृष्टि को वित्तकुल ही भुला दिया है। दर्शनिक प्रबन्धों में भी न केवल ऐतिहासिक घटनाओं के बीज निश्चिप रहते हैं, किन्तु उनका प्रयोक शब्द, प्रत्येक युक्ति और प्रयोक सिद्धान्त अपने उद्दर में अपनी कहानी छिपाये हुए हैं। यह बात इतनी सत्य है कि विद्वत्समाज उसे स्वीकार किये बिना न रहेगा। प्राचीन साहित्य के किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन करते समय अध्येता को यह स्मरण रखना चाहिये कि उस ग्रन्थ की रचना में तद्कालीन परिस्थिति का बहुत बड़ा हाथ है। और यदि उसके पूर्वकालीन, समकालीन और उत्तरकालीन ग्रन्थों के साथ उसे तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ा जाये तो ऐसे ऐसे रहस्यों का बद्धाटन होता है जिनकी कल्पना कर सकना भी संभव नहीं है। साहित्य चाहे वह दर्शनिक हो या धार्मिक, सामाजिक हो या राजनैतिक, पौराणिक हो या व्याख्यात्मक, अपने समय के द्वन्द्वों का प्रतिविम्ब होता है। जिस साहित्य में केवल वस्तु विवेचन हो, वह भी इस दृष्टि से अदृश्या नहीं रह सकता तब जिसमें वस्तुविवेचन के साथ साथ उस समय के प्रचलित मत-मतान्तरों की आलोचना की गई हो, वह साहित्य अपने रचनाकाल के प्रभाव से कैसे अदृश्या रह सकता है? लीयूर्यव्यय तथा उसकी स्वोपन्न विवृति उस समय रचे गये हैं जब भारत की अन्तर्मुखी दर्शनिक परिस्थिति में यूरूप की वाहिमुखी आधुनिक परिस्थिति से भी अधिक उथल पुथल हो रही थी और भारतवर्ष के दर्शनिक ज्ञेत्र में धर्मकीर्ति और कुमारिल सरीखे प्रखर तार्किक और समर्थ विद्वान् अपनी

लेखनी और वाक्शक्ति के द्वारा अपने विरोधी को परास्त करके अपनी विजयवैजयन्ती फहराने में संलग्न थे। इसी प्रकार न्यायकुमुदवचन्द्र की रचना भी ऐसे ही छन्दकाल में ही हुई है। इसा की सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का सभ्य भारत के दार्शनिक लेत्र में बहुत महस्वपूर्ण है। इस समय में परस्पर के संघर्ष से दर्शन शास्त्र का खूब विकास हुआ, प्रबल प्रतिवादियों के आक्रमणों से आत्मरक्षा करने के लिये नये नये सिद्धान्तों का सर्जन और पुरानों का संवर्द्धन हुआ। कई एक नूतन मत आविर्भूत हुए और कई एक पुरातन सिद्धान्त अपने पदचिह्न छोड़कर अस्त हो गए। शकाराचार्य के अद्वेतवाद का प्रादुर्भाव और बौद्धधर्म का मध्याह्न तथा उसके पतन का श्री गणेश इसी काल में हुआ। इस संस्करण में मुद्रित प्रन्थ भी लगभग इसी छन्द काल की रचनाएँ हैं और उनके निर्माता भट्टाकलङ्क और प्रभाचंद्र ने अपने समय के समर्थ तारिकों के मत की आलोचना उनके ग्रन्थों से अवतरण देकर की है। अतः उनकी आलोचनाओं का रहस्य तथा उत्तरकालीन ग्रन्थकारों पर उनका प्रभाव जानने के लिये यह आवश्यक है कि अच्येता पूर्वकालीन तत्कालीन और उत्तरकालीन दार्शनिक मन्तव्यों से परिचित हो। इन्हीं वारों को दृष्टि में रखकर शब्दसाम्य, अर्थसाम्य और भावसाम्य की दृष्टि से प्रत्येक सिद्धान्त और युक्ति का प्रादुर्भाव और विकास बताना के लिये पूर्वकालीन, समकालीन और उत्तरकालीन ग्रन्थकारों के मन्तव्यों को टिप्पणी में ज्ञान का त्वयं उद्भूत कर दिया है। सङ्कलन करते समय ऐतिहासिक कम की रक्षा का भी यथासंभव प्रयत्न किया गया है। इसके सिवा कुछ टिप्पणियां प्रन्थकार के आशय को सष्टु करने के लिये तथा कुछ पाठ-शुद्धि के लिये भी दी गई हैं। प्रत्येक विषय के अन्त में उसकी चर्चा के पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष सम्बन्धी ग्रन्थों की एक विस्तृत सूची दी है। जिससे उस विषय के और भी पर्यालोचन के लिए यह सूची निर्देशिका का कार्य देगी।

**अवतरणनिर्देश—प्रथ में उद्भूत जिन पद्यों तथा वाक्यों के निर्देशस्थल खोजे जा सके उनके आगे कोष्ठक में उनके मूलस्थल दे दिये गये हैं और इस प्रकार के तथा अन्य उद्भूत पद्यों को जिन जिन ग्रन्थों में उद्भूत किया गया है टिप्पण में उन ग्रन्थों का भी निर्देश कर दिया है। इससे ग्रन्थकारों का समय निर्णय करने में काफी सहायता मिल सकेगी।**

**सङ्केतविवरण—टिप्पणी तथा मूलग्रन्थ में अनेक स्थान में सांकेतिक शब्दों का प्रयोग किया है। उस का पूरा विवरण दे दिया है; जिससे उन ग्रन्थों का यथावृत उपयोग हो सके।**

**विषयातुकमणिका—**इस में प्रत्येक विषय के पूर्वपक्ष की सास खास युक्तियां तथा उत्तर पक्ष के सास खास प्रमाण तथा विचारों का कम से विस्तृत संग्रह किया है। जिससे ग्रन्थ के पाठों विद्यार्थियों के विषय याद करने में बहुत सहायता मिलेगी।

**परिशिष्ट—**इस भाग में 'लघुयस्त्र' के शब्दों की सूची, लघुयस्त्र की कारिकाओं की अकारादिकम से सूची, विवृति के शब्दों की सूची, न्यायकुमुदवचन्द्र के दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्दों की सूची, लक्षणवाक्यों की सूची, उद्भूतपदों की सूची, प्रथ में आगत ग्रन्थ तथा प्रथकारों के नामों की सूची, टिप्पणी सूची, प्रथ के सम्बादन में उपयुक्त ग्रन्थों की सूची, भूमिका में आये नामों की सूची, भूमिका लिखने में उपयुक्त ग्रन्थों की सूची, आदि अनेक परिशिष्ट रहेंगे। यह भाग इस संस्करण के द्वितीय भाग के अन्त में रहेगा। ये परिशिष्ट अनेकों के बड़े काम के सिद्ध होंगे। इनके द्वारा प्रथ का कोई भी विषय सरलता से देखा जा सकता है।

**भूमिका**—इस भाग में प्रन्थ तथा ग्रन्थकार अकलङ्क और प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में ज्ञातव्य अनेक ऐतिहासिक मन्त्रों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। ग्रन्थ विभाग में प्रन्थ का तुलनात्मक परिचय तथा विशद विषय परिचय दिया गया है। ग्रन्थकार विभाग में अकलङ्क देव का इतिहास निवद्ध किया है और अकलङ्क के साथ प्रायः मुख्य मुख्य सभी जैन तथा जैनतेर ग्रन्थकारों की तुलना करते हुए बहुत सी बातों का रहस्य उद्घाटित किया है। इस भाग को यदि जैनर्क युगके इतिहास की रूपरेखा कही जाये तो कोई अन्युक्ति न होगी। क्योंकि अकलङ्क देव को जैन न्याय के प्रस्थापक होने का श्रेयः प्राप्त है। यदि जैनदर्शन के कोषागार से उनके ग्रन्थद्वारों को अलग कर दिया जाये या जैनन्याय रूपी आकाश से इस जाग्वल्यमान नक्षत्र का अस्तित्व मिटा दिया जाए तो वे सुने और निष्प्रभ हो जायेंगे। अतः इस महापुरुष की जीवनगाथा और जैनन्याय के विकास की आत्मकथा दोनों परस्पर में सम्बद्ध हैं, एक के जीवन का अनुशीलन दूसरे पर प्रकाश डालने के लिये प्रदीप का काम देता है। अतः इस भाग में प्रकृतप्रणायोंकी तुलनात्मक विवेचना के साथ साथ अकलङ्क और प्रभाचन्द्र के समय और प्रन्थों की विवेचना, अकलङ्क से पहले जैनन्याय की रूपरेखा, जैनन्याय को उनकी देन, आदि सभी आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला गया है। अकलङ्क के समयनिर्णय के प्रकाश में अन्य भी कई जैनतेर ग्रन्थकारों के प्रचलित समय के बारे में भी ऊहापोह किया गया है, इस लिये ऐतिहासिकों के लिये भी यह प्रस्तावना उपयोगी होगी।

**छपाई आदि**—मूल, विवृति, व्याख्यान, टिप्पण और पाठान्तर के लिये उपयुक्त टाइप का उपयोग किया है। उद्धरणवाक्य इटालिक में दिये गये हैं जिससे उनके पहचानने में भ्रम न हो। पाठान्तर और टिप्पण में भेदसूचन करने के लिये पाठान्तर को मोटे और शेष टिप्पण को पतले टाइप में दिया है। प्रत्येक पत्र पर पंक्तिसंख्या भी दी गई है जिससे अन्वेषकों को अनेक सहूलियतें रहेंगी। प्रत्येक पुस्तके ऊपर प्रबोश, परिच्छेद, कारिका की संख्या और विषय का निर्देश कर दिया है इससे किसी भी विषय को सरलता से खोजा जा सकेगा।

लिखित प्रतियों में विरामचिह्नों का उपयोग मात्र '।' ऐसी खड़ी पाई का होता है। वह भी लेखक एक पत्र या पंक्ति में शोभा के लिए इतनी पाइयाँ लगानी चाहिए ऐसा सोचकर जहां मन में आता है वहां लगा देते हैं। हमने इसमें अत्पविराम, अर्धविराम, विराम, आश्चर्य-सूचक, प्रश्नसूचक आदि चिह्नों का उपयोग किया है। किसी खास बात को या पूर्वपक्ष के शब्दों को ' ' इस तरह सिंगल इनवर्टेड कामा में रखा है। अवतरणों को " " डबल इनवर्टेड कामा में रखा है। प्रकरणों का तथा अवान्तर चर्चाओं का वर्गीकरण करके उन्हें भिन्न भिन्न पैरोफ्राप में रखा है। जहाँ प्रकरण शुरू होता है वहाँ बगल में हेडिंग इटालिक टाइप में दे दिया है। इस तरह पाठकों की सुविधा के लिए प्रायः समुचितप्रणालियों पर ध्यान रखके इसका मुद्रण कराया गया है। प्रन्थ में जो शब्द सभी प्रतियों में अशुद्ध है तथा हमें उन शब्दों की जगह दूसरा पाठ प्रतीत हुआ उसे ( ) इस ब्रेकिट में दिया है। जिससे प्रन्थ की मौलिकता सुरक्षित रह सके। विशेष व्यक्तियों के नाम या बादों के नामों के नीचे ऐसी लाइन दे दी है। संक्षेप में यही इस संस्करण का सिंहावलोकन है।

### संशोधन में उपयुक्त प्रतियों का परिचय

(१) 'आ०' संझक, ईडर्डमंडार की जोर्णशीर्ण कीटदृष्ट प्रति। इस प्रति में कुल ४११ पत्र हैं। अन्तिम दो पत्र एक बाजू पर ही लिखे गए हैं। इसके शुरू के ११ पत्र सदृश लेखक के द्वारा लिखी गई लघीयत्व की स्वविवृति की प्रति से बदल गए हैं, अर्थात् विवृति

के ११ पत्र इसमें लग गए तथा इसके ११ पत्र संभवतः विवृतिकी प्रति में या और कहीं बंध गए होंगे। पर इस विनिमय से हमें विवृति के उद्धार में बहुत सहायता मिली है।

पत्रों की लंबाई चौड़ाई  $10\frac{1}{2} \times 8\frac{1}{2}$  इंच है। एक पृष्ठ में १३ पंक्ति तथा प्रयेक पंक्ति में ४९-५० अक्षर हैं। इसके प्रारम्भ के १०८ पत्र तथा २१३ और २१४ वें पत्र आधे गल गए हैं। इनको अति सावधानी से उठाने पर भी प्रतिक्षण इसके परमाणु विशेषण होते जाते हैं। अन्तिमपत्र तो इतने विस गए हैं कि आईंगलास की मदद लेने पर भी कठिनता से ही वांचे जा सकते हैं। इसके अन्त में पुष्टिका लेख इस प्रकार है—“इति न्यायकुमुदचन्द्रविवृतितकः समाप्तः मिति ॥ छ ॥ प्रथाप्रः १६००० ॥ १५२० ॥ छ ॥ शुभं भवतुः ॥” ॥ श्री ॥ इसके अन्त में १५२० का अङ्ग देने से तथा प्रति की अवस्था देखते हुए कहा जा सकता है कि यह प्रति संभवतः संबृत् १५२० में लिखी गई हो। इसके ३०८ से ३१३ तक के पत्र किसी दूसरे लेखक के लिये मालूम होते हैं। कहीं कहीं छूट हुआ पाठ हाँसिया में दिया गया है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि प्रति लिखी जाने पर फिर से मिलाइ गई है। अक्षर पुष्टमात्रा वाले सुवाच्य हैं। प्रति शुद्ध है। हाँसियां में कहीं कहीं अर्थोदावक टिप्पणियां भी ही गई हैं। प्रकरण की समाप्ति स्थल में कुछ शब्द गेरुआ रङ्ग से रङ्ग दिए गए हैं। अन्यप्रतियों की अपेक्षा हमें यह प्रति शुद्ध मालूम हुई इस लिए हमने इसे आदर्शप्रतियोगी मानकर प्रेस कापी की थी। इसमें अखिली के १५० पत्रों में शब्दशास्त्र के कारण एक एक दो दो पंक्ति के पाठ छूट गए हैं। मालूम होता है लेखक लिखते लिखते उत्तर आगे आगे का पाठ नहीं मिलाया।

(२) ‘ब०’ संज्ञक, बनारस के श्री स्यादाद जैन महाविद्यालय के अकलंक सरस्वती भवन की प्रति है। यह प्रति आरा के जैनसिद्धान्त-भवन की प्रति पर से की गई है। अत्यन्त अशुद्ध है। इस में शक्तिनिरूपण से करीब २२ पत्र का पाठ विलकृल छूट गया है। इस २२ पत्र के पाठ की भूल न केवल आरा और बनारस की प्रतियों में है; किन्तु चुरुजा, व्यावर, इन्दौर, ललितपुर, जयपुर आदि के भेंडारों की प्रतियों में भी है। इसका एक ही कारण मालूम होता है कि उत्तर प्रान्त की समस्त प्रतियों किसी ऐसे आदर्श से को गई हैं जिसमें उक्त पाठ न होगा, या लेखक ने सदृश शब्द आने से प्रथमप्रति में छोड़ दिया होगा। इसके अतिरिक्त इस प्रति में १-२ पेज का पाठ भी दो जगह छूटा है। २४ पंक्तियों के पाठ का छूट जाना तो साधारण सी बात है। पत्र की लंबाई चौड़ाई  $14\frac{1}{2} \times 7\frac{1}{2}$  इंच है। पत्र संख्या २७९, एक पेज में १५ पंक्ति, एक पंक्ति में ५०-५१ अक्षर हैं। चैत्र शुद्ध ३ सं १९६४ की लिखी हुई है। अक्षर जितने सुवाच्य हैं उतनी ही अशुद्ध लिखी गई है। मार्जिन में विषय का नाम तथा टिप्पणी आदि कुछ नहीं है।

(३) ‘ज०’ संज्ञक, जयपुर के एक भेंडार की प्रति है। इसका आदर्श भी कोई उत्तर प्रान्त की प्रति ही मालूम होती है। इसमें भी ब० प्रति की तरह २२ पत्र का पाठ छूटा है। ब० और ज० दोनों प्रतियों का आदर्श प्रायः एक ही मालूम होता है। पत्र संख्या ५८८ है। पत्र की लंबाई चौड़ाई  $14 \times 5$  इंच है। एक पेज में ७ पंक्ति, एक पंक्ति में ४६-४७ अक्षर हैं।

नकल करने का समय आसोज सुदी १५ सं १९३७ दिया गया है। टिप्पणी कहीं कहीं ही है। ब० प्रति की तरह सदृशशब्द आने पर पेज के पेज पाठ छोड़ दिए गए हैं। एक एक दो दो पंक्तियां तो बीसों जगह छूटी होंगी। प्रति का लेख सुवाच्य है। प्रति अशुद्ध है।

(४) ‘भां०’ संज्ञक, भांडारकर प्राच्यविद्यासंशोधनसंग्रहालय की 5066 of 1937-38 नं० वाली ताडपत्र की प्रति है। इसके पाठान्तर लेने को मैं स्वर्यं पूना गया था। कनड़ी वाचक की

सहायता से इसके पाठान्तर संगृहीत किए गए हैं। इसके और ब० ज० प्रति के पाठ बहुत कुछ मिलते हैं। पर इसमें वह २२ पत्र वाला पाठ छूटा नहीं है। पत्र संख्या २६०, पत्रों की लंबाई चौड़ाई २०<sup>३</sup> × २<sup>३</sup> इच्छा है। प्रत्येक पत्र में ७ से १० लाइन तथा प्रत्येक लाइन में ११५-१२० तक अक्षर है। इसकी लिपि तैलगू है। हाँसिया में टिप्पणी नहीं हैं; हाँ प्रकरण शुरू होते ही विषय का निर्देश सूक्ष्मरूप में हाँसिया में कर दिया है। कुछ पत्र तीन हिस्से करके लिखे गए हैं तथा कुछ पत्र दो हिस्सों में। प्रति अशुद्ध है। य और द में कार्ड अन्तर नहीं मालूम होता।

प्रति के अन्त में—‘श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्भारानिवासिना परापरमेष्टिष्ठानामो-पाजितामलपुष्ट्यनिराकृतनिखिलम् [ ल ] कलंकेन श्रीमप्रभाचन्द्रपंडितेन न्यायकुमुदचन्द्रो लघीय-खयालंकारः कृतः इति मंगलम्। श्री शालिवाहनशक्वर्ष १७६५ शुभमृत संवत्सर चैत्रशुद्ध पंच-दश यान्ते’ लिखा है। इससे इस प्रति के लिखने का समय चैत्र शुद्ध १५ शक १७६५ स्पष्ट है।

(५) ‘श्र०’ संज्ञक, श्रवणवेलगोला के भट्टारक श्री चारकीति पंडिताचार्य जी के भंडार की है। यह प्रति पुरानी कनड़ी लिपि में ताड़पत्र पर लिखी गई है। इसके पाठान्तर भी कनड़ी वाचक की सहायता से लिए गए हैं। इसका आदर्श भी भाँ० प्रति की ही तरह है। अशुद्ध भी उतनी ही है। पत्र संख्या २३७, पत्रों की लंबाई चौड़ाई २५ × १<sup>३</sup> इच्छा है। एक पेज में ८-९ लाइन हैं। प्रत्येक पेज तीन कालम में विभाजित है। पहिले कालम में २९ अक्षर, दूसरे में ८८ तथा तीसरे में ८९ इस तरह १०६-१०७ अक्षर हर एक पंक्ति में है। टिप्पणी कहीं नहीं है। हाँ, भाँ० प्रति की तरह प्रकरण शुरू होते ही उसका निर्देश सूक्ष्माक्षरों में माजिन में किया है। इस प्रति की एक विशेषता है कि इसके प्रारम्भ में प्रत्येक पत्र की विस्तृत विषय सूची सरल संस्कृत भाषा में लिखी हुई है जो किसी दूसरी प्रति में नहीं देखी गई। इसके अन्त में भी भा० प्रति की तरह ही ‘श्री जयसिंहदेवराज्ये’ इत्यादि पुष्टिका लेख है।

स्वविवृति की संकलना तो आ० प्रति के प्रारम्भ में लगे हुए विवृति के ११ त्रुटित पत्रों के आधार से न्यायकुमुद का समप्रवाचन करके की गई है। पर इसकी व्याख्यान भूली जयपुर से प्राप्त स्वविवृति की प्रति से ही हो सकी है।

आभार प्रदर्शन—यद्यपि इस ज्ञेत्र में हमारा यह प्रथमप्रयास है, परन्तु विशिष्टसहायकों के कारण हमें विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। श्रद्धेय पं० सुखलाल जी जैसे दर्शनशास्त्र के अधिकारी, अनुभवी विद्वान् के समयोचित परामर्श से तथा इनके द्वारा संपादित सन्मतिर्तक का संस्करण सामने रहने से हमें अपने कार्य को तथा संपादनप्रणाली की रूप-रेखा बनाने में जरा भी अड़चन नहीं हुई। इन्हीं के द्वारा हमें अनेकों ग्रन्थ जिनमें सिद्धिविनिश्चय-दीका, तत्त्वोपद्धर्मसिंह, हेतुविनुदीका, प्रमाणप्रसंग आदि अलग्य लिखित ग्रन्थ शामिल हैं, प्राप्त हो सके। यद्यपि सन्मतिर्तक के हम इस संपादन में अणी हैं पर सन्मतिर्तक के द्वितीय संस्करण के संपादक इस ऋण को न्यायकुमुदचन्द्र के इस संस्करण से निश्चित रूप से व्याज सहित पा सकेंगे।

संपादन में प्रेसकापी से लेकर प्रस्तावनान्त सभी कार्य हम और हमारे ज्येष्ठ-सहचर पं० कैलाशचन्द्रजी संयुक्तमाव से करते रहे हैं। हाँ, संपादनांश की जिम्मेवारी हमारे ऊपर तथा प्रस्तावनांश की जिम्मेवारी उनपर रही, अतः सहयोगित का ताते उन्हें जो सामग्री संपादनांश में उपयोगी मालूम हुई मुझे बताई, हमें जो सामग्री प्रस्तावना के योग्य प्रतीत हुई, उन्हें बताई। इस तरह पारस्परिक सहयोग से संपादनांश तथा प्रस्तावनांश की पूर्णि एक दूसरे से होती रही। पर जिम्मेवारी आदि कारणों से हमारे ज्येष्ठसहयोगी पं० कैलाशचन्द्रजी की यह प्रबल इच्छा रही कि—‘प्रस्तावना में मात्र उन्हीं का तथा संपादन में मात्र मेरा नाम रहे।’ यद्यपि संपादन में

उनका नाम न होना सुमें खटकता है; फिर भी उनकी इच्छा का समादर करके हमने उनके इस पृथक् नामकरण के प्रस्ताव को मान लिया है। पं० जी ने प्रेसकापी-आदि-प्रौ-अन्त सभी कार्यों में हमें बड़े परिश्रम से सहायता पहुँचाई है, तथा प्रस्तावना की जिस्मेवारी उठाकर तो उहोंने हमारा बोझ बहुत कुछ हल्का कर दिया है। ऐसे विशिष्ट सहयोगी के मिलने से हम इस भाग में ५ साल जैसा लंबा समय धैर्य के साथ लगा सके हैं।

विद्यामूर्ति पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी का हमारा संपादनकम देवकर चिरसंचित सहज विद्यातुराग उमड़ पड़ा। उहोंने हमें बहुत प्रोत्साहन दिया। तथा हमारी प्रार्थना से अपना बहुमूल्य दर्शनिक प्रन्थसंभ्रह स्याद्वाद विद्यालय की लाइब्रेरी को भेंट किया। इतना ही नहीं, अपना सर्वस्व ४३००) रु० भी उस्तकालय के प्रौद्योगिकी में इस लिए प्रदान किये कि—इसके व्याज से प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-पाली आदि भाषाओं के दर्शनिक प्रन्थ ही मँगाए जाय। आप के इस विद्यातुरागमूलक औदार्य से हमें सम्पादनोपयोगी दर्शनिकप्रन्थ अनायास ही मिल सके। ऐसे उद्देश विद्यारास के दर्शन दूसरी जगह कठिनता से ही होते हैं।

पं० सुखदालजी के शब्दों में ‘बृद्धयुक्त’ श्री पं० नाथराम जी प्रेमी ने, जो इस प्रन्थमाला के मन्त्री हैं, हमें पूरे उत्साह तथा आधिक औदार्य के साथ साधन जुटाने में कोई कमी नहीं की। प्रन्थमाला के द्वितीय मंत्री प्रो० हीरालाल जी तथा कोषाध्यक्ष सेठ ठाकुरदास-भगवान्-दास जी जेरो ने भी वडे सौजन्य से हमारे कार्य में आवश्यक सहायता पहुँचाई।

बौद्धविद्वान् भिक्षु राहुलसंकृत्यायन जी ने बड़ी कठिनता एवं साहस से तिक्तल से प्राप्त प्रमाणवार्तिक, वाद-व्याय, वार्तिकालंकार आदि दुर्लभ अर्थों के प्रूफ देकर असाधारण सहायता पहुँचाई। पं० जुगुलकिशोर जी सुखदार सरसाचा ने संपादन के लिए ढहूत न्याय-विनिश्चय की कारिकाओं का मिलान कराया। भाष्डारक-प्राच्यविद्यासंशोधन-मंदिर पूता के प्रबन्धकों ने अपने यहाँ की ताङ्पत्र की प्रति से पाठान्तर लेने में सुविधा की। भट्टरक श्री चारूकीर्ति पंडिताचार्य अवणबेलगोला ने अपने यहाँ की ताङ्पत्र वाली प्रति भेजी। मास्टर मोतीलाल जी संघी तथा कविरत्न पं० चैनसुखदास जी सा० जयपुर ने न्यायकुमुदचन्द्र तथा स्वविवृति की प्रति भेजी। भाई पं० दलसुखजी न्या० ती० ने छपाई-आदि के बाबत उचित परामर्श दिया। प्रिय भाई खुशालचन्द्र जी बी० प०, शास्त्री ने कुछ प्रूफ देखने में सहायता पहुँचाई। हम उक्त सभी सहायक महातुभावों का आभार मानते हैं।

प्रन्थ-सम्पादन-काल में सदाशय प्रेमी जी का यह सदुपालम्ब कि—‘यथेष्ट पारिश्रमिक देने पर भी जैनपंडित जिस्मेदारी से कार्य नहीं करते’ हमेशा ध्यान में रहता था। इसी के कारण हमने उपलब्ध सामग्री के अनुसार यह प्रारम्भिक लघुप्रयत्न किया है। यदि इससे प्रेमी जी योझी भी सन्तोष की सांस ले सके तो हम अपने प्रयत्न को कुछ सफल समझेंगे। इस भाग की छपाई टिप्पणी संकलन आदि में काफी साधारानी से कार्य किया है, पर मनुष्य की शक्ति तथा सामग्री का विचार करके स्वल्प होना संभव है। आशा है पाठकानां इसे सद्ग्राव से देखेंगे।

एक दुर्वदभ्रसंग—मैंने संपादन काल में जात अपने ब्यौष्ठपुत्र का नाम संपादन की स्मृति-तिमित्त ‘कुमुदचन्द्र’ रखा था। काल की गति विचित्र है। अब तो यह सम्पादित-प्रन्थ ही उसका पुण्यस्मारक हो गया है। मैं तो इसे अपने साहित्य-यज्ञ की आहूति ही मानता हूँ।

वीरशासन-दिवस, श्रावण कृष्ण १, बी.सं० २४६४ } }

स्याद्वाद विद्यालय, काशी।

सम्पादक—

महेन्द्रकुमार

## प्रश्नतात्त्वकर्त्ता

आज हम अपने पाठकों के सन्मुख जिस प्रन्थरत्र की प्रस्तावना उपस्थित करते हैं उसका नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। यह प्रन्थ एक स्वतंत्र रचना न होकर लघीयख्य और उसकी विवृति का विशद् व्याख्यान है। यद्यपि आज से कई वर्ष पहले मूलप्रन्थ लघीयख्य अभयचन्द्रसूरि-रचित तात्पर्यवृत्ति के साथ इसी प्रन्थमाला के प्रथम पुष्ट के रूप में प्रकाशित हो चुका था किन्तु उसकी विवृति और व्याख्यान अभी तक अप्रकाशित ही था। न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियाँ तो कुछ प्रन्थभण्डारों में पाई भी जाती थीं किन्तु स्वोपज्ञविवृति के अस्तित्व का पता तो सबसे पहले १० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने ही लगाया था। आज दोनों प्रन्थरत्र अपने अनुरूप संपादन और मुद्रण के साथ प्रकाशित हो रहे हैं।

अपनी इस प्रस्तावना को हमने दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग प्रन्थों से सम्बन्ध रखता है और दूसरा प्रन्थकारों से। प्रन्थविभाग में, प्रन्थों के सम्बन्ध में जो कुछ जाना जा सका उसे बतलाने का प्रयत्न किया है और प्रन्थकार विभाग में प्रन्थकारों के सम्बन्ध में आवश्यक सभी बातें निर्दिष्ट करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

### १. प्रन्थपरिचय

लघीयख्य—जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है, यह प्रन्थ छोटे २ तीन प्रकरणों का संग्रह है। प्रकरणों का नाम क्रमशः प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश है। प्रथम प्रवेश में चार परिच्छेद हैं, दूसरे में एक और तीसरे में दो। इस प्रकार इस प्रन्थ में कुल सात परिच्छेद हैं। प्रन्थ का प्रवेशों और परिच्छेदों में विभाजन स्थायं प्रन्थकार का ही किया हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि उसकी स्वोपज्ञविवृति की जो प्रतियाँ हमारे देखने में आई, उनमें भी विषयविभाजन का यही क्रम है, तथा न्यायकुमुदचन्द्र की हस्तालिखित प्रतियों में और मुद्रित तात्पर्यवृत्ति में भी उक्त क्रम ही पाया जाता है, उसमें कोई व्यतिक्रम दृष्टिगोचर नहीं होता।

किन्तु यहाँ पर एक शांका उत्पन्न हो सकती है। कहा जा सकता है कि न्यायकुमुदचन्द्र की विभिन्न प्रतियों में विषयविभाजन का एक ही क्रम देखकर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यह विभाजन मूलकार का किया हुआ है क्योंकि विभिन्न प्रतियों में पाठभेद हो सकता है किन्तु विषयविभाजन में तो अन्तर पड़ने का कोई कारण ही नहीं है। तथा अभयचन्द्र ने भी अपनी तात्पर्यवृत्ति न्यायकुमुदचन्द्र को सामने रखकर ही बनाई है, जैसा कि उसके प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम श्लोक में दत्त 'अकलंक्रमा' शब्द से व्यक्त होता है। अतः उन्होंने भी वही क्रम अपनाया होगा जो प्रभाचन्द्र ने अपनाया था। रह जाती हैं स्वोपज्ञविवृति की प्रतियाँ, किन्तु उनमें भी प्रथम परिच्छेद की सन्धि में 'इति न्यायकुमुदचन्द्रे' आदि लिखा है,

---

१ अनेकान्त, वर्ष १, पृष्ठ १३५। २ अन्तिम प्रवचनप्रवेश का दो परिच्छेदों में विभाजन स्विवृति की मूल प्रतियों में नहीं पाया जाता।

जिससे ज्ञात होता है कि ये प्रतियोंभी न्यायकुमुदचन्द्रके आधार पर ही की गई हैं। अतः उपलब्ध सामग्री के आधार पर तो लघीयस्थ्य का विभाजन मूलकार का किया हुआ प्रतीत नहीं होता। यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि ग्रन्थ का तीन प्रकरणों में विभाजित होना तो ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है। रह जाता है प्रत्येक प्रकरण का अवान्तर परिच्छेदों में विभाजन, सो कारिकाओं की स्वोपज्ञविवृति का ध्यानपूर्वक अबलोकन करने से उसका भी स्पष्टीकरण हो जाता है क्योंकि प्रत्येक परिच्छेद की अनितम कारिका की विवृति उपर्याहारात्मक प्रतीत होती है। तथा, मूलकार के अन्य ग्रन्थों के देखने से भी विषय के अनुरूप ग्रन्थ का विभाजन करने की प्रवृत्ति उनमें पाई जाती है। स्वोपज्ञविवृति की प्रतियों में जो 'न्यायकुमुदचन्द्र' या 'श्री-मद्राहाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्र' लिखा है वह लेखकों की भूल का परिणाम है और उससे इतना ही प्रमाणित होता है कि न्यायकुमुदचन्द्र की रचना के बाद यह प्रतियों की गई है। यदि उनका आधार न्यायकुमुदचन्द्र होता तो दोनों की सन्धियों में मौलिक अन्तर न होता। तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में चौथे पांचवें तथा सातवें परिच्छेद के अन्त में दुहरे सन्धियाकार पाये जाते हैं, जिनमें से एक परिच्छेद का अन्त सूचक है और दूसरा प्रवेश का। यथा—“इति प्रभावन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्थ्यालङ्कारं पञ्चमः परिच्छेदः” । “एवं प्रकान्तप्रत्यक्षादिपरिच्छेदपक्षमो नयप्रवेशो द्वितीयः” । इससे भी उक्त वात का समर्थन होता है।

लघीयस्थ्य का अन्तःप्राक्षण करने से एक शंका पुनः हृदय में उठ खड़ी होती है। हम लिख आये हैं कि यह ग्रन्थ छोटे छोटे तीन प्रकरणों का संग्रह है। आस्तिकों के नियमानुसार इसके आरम्भ में तो मङ्गलगान किया ही गया है किन्तु मध्य में, तीसरे प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में भी मङ्गलगान किया है। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता इसे मध्य मङ्गल बतलाते हैं क्योंकि शास्त्रकार ग्रन्थ के आदि मध्य और अन्त में मङ्गल का विधान करते हैं। किन्तु अकलंक के किसी अन्य ग्रन्थ में हम मध्य मङ्गल नहीं पाते। इसके सिवाय, उनके न्यायविनियोग नामक ग्रन्थ में—जिसके तीन प्रस्ताव इहत्य कहे जाने के बोग्य हैं—प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में स्वग्धरा और शारदूलविक्रीडित छन्द पाये जाते हैं, जो परिच्छेद या प्रकरण की समाप्ति का सूचन करते हैं। लघीयस्थ्य में इस तरह के पद्य नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश के अन्त में पाये जाते हैं। तथा तीसरे प्रवेश के आदिश्लोक में मङ्गलगान के साथ ही साथ प्रमाण नय और निचेप का कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और प्रमाण और नय का वर्णन करते हुए प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश में प्रतिपादित कुछ बातों की पुनराक्ति भी की गई है। तथा स्वविवृति की प्रतियों में द्वितीयप्रवेश के अन्त में समाप्तिसूचक 'छतिरियं भट्टाकलङ्कस्य' आदि लिखा हुआ है। इस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ, तीन नहीं, अपि तु दो प्रकरणों का एक संग्रह है। यदि नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश की तरह, प्रमाणप्रवेश के अन्त में भी समाप्तिसूचक पद्य होता तो तीनों प्रवेशों के स्वतंत्र प्रकरण होने में सनदेह को स्थान न रहता।

यह आशंका साधार है और हृदय को लगाती भी है किन्तु ग्रन्थ का नाम लघीयस्थ्य होते हुए भी एक ही ग्रन्थ के रूप में हमें उसकी समीक्षा करनी चाहिए, न कि तीन स्वतंत्र

१ परपरिकल्पितद्रव्यखण्डनमनेकान्तरनेन द्रव्यस्थापने नाम द्वितीयपरिच्छेदः। परपरिकल्पितानुसानादित्वद्दनेस्वमतप्रणीतप्रमाणद्रव्यव्यवस्थापने तृतीयपरिच्छेदः। ज० विवृति।

प्रकरणों के एक संग्रह के रूप में, और उस हित से उसके त्रयत्व में विशेष बाधा उपस्थित नहीं होती। अकलंकदेव के अन्य प्रकरणों के देखने से ज्ञात होता है कि वे ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलगान करने के बाद कण्टकशुद्धि आदि के उद्देश्य से एक पद देते हैं। इस ग्रन्थ में भी ऐसा ही क्रम पाया जाता है, मंगलगान के पश्चात् 'सन्तानेषु निरन्वयक्षणिक' आदि पद के द्वारा इसमें भी कण्टकशुद्धि की गई है। प्रमाण और नयप्रवेश की कुछ बातें यद्यपि प्रवचनप्रवेश में दुहराई गई हैं तथापि उनमें हितमेद है और उसका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा। रह जाती है प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में मङ्गलगान की बात, सो न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता ने मध्यमङ्गल बतलाकर उसका समाधान कर ही दिया है। क्योंकि ग्रन्थ का नाम उसके तीन प्रवेश और प्रवेशों के अवान्तर परिच्छेदों के रहते हुए कोई भी विचारक उसे मध्यमङ्गल के सिवाय अन्य बतला ही क्या सकता था। किर भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के पञ्चमपरिच्छेदान्तभाग को पृथक् बनाया गया है और प्रवचनप्रवेश को पृथक्, और बाद में दोनों को सङ्कलित करके लघीयस्थ नाम दे दिया गया है। प्रारम्भ के चार परिच्छेदों में प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल का वर्णन होने के कारण उन्हें प्रमाणप्रवेश नाम दिया गया, पाँचवे परिच्छेद में केवल नयों का वर्णन होने के कारण उसे नयप्रवेश संज्ञा दी गई और छठवें तथा सातवें परिच्छेद में प्रमाण नय और निषेप का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करके भी श्रुत और उसके भेद प्रभेदों का प्रधानतया वर्णन होने के कारण उन्हें प्रवचनप्रवेश नाम से व्यवहृत किया।

अकलंक के प्रकरणों पर बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति का बड़ा प्रभाव है। धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणविनिश्चय और न्यायविनिष्ठु में तीन तीन ही परिच्छेद रखे हैं। अकलंकदेवने अपने न्यायविनिश्चय में भी तीन ही परिच्छेद रखे हैं, अतः संभव है कि इसी का अनुसरण करके लघीयस्थ नाम की ओर उसके तीन प्रवेशों की कल्पना की गई हो। अस्तु,

पहले परिच्छेद में साड़े छ कारिकाएँ हैं, दूसरे में तीन, तीसरे में साड़े ग्यारह, चतुर्थ में आठ, पाँचवे में इक्षीस, छठवें में बाईस और सातवें में छ। मुद्रित लघीयस्थ के पाँचवे परिच्छेद में केवल बीस कारिका एँ हैं किन्तु स्वोपज्ञविवृति तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में 'लक्षणक्षणिकैकान्ते' आदि कारिका अधिक पाई जाती है। विवृति तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में कारिकाओं पर कमसंख्या नहीं दी गई है किन्तु मुद्रित लघीयस्थ में कमसंख्या दी है। पता नहीं, यह कमसंख्या हस्तलिखित प्रति के आधार पर दी गई है या संपादक ने अपनी ओर से देवी है।

विवृति की प्रतियों में प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में निम्न पद अधिक पाया जाता है—

मोहेनेव परोपि कर्मभिरहि प्रेत्यामिवन्धः पुनः ,

भोक्ता कर्मफलस्य जातुचिदिति प्रश्रृष्टदृष्टिर्जनः ।

कस्माच्चित्रतपोभिरुद्यतमनाशैत्यादिकं वन्दते ,

किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे धूर्तेजडा वज्रिताः ॥ १ ॥

रचनाशैली आदि से तो यह पद अकलंकदेव का ही जान पड़ता है किन्तु न्यायकुमुदचन्द्र की किसी भी प्रति में इसका सङ्केत तक भी नहीं है। अकलंक के किसी अन्य ग्रन्थ में भी यह नहीं पाया जाता। पता नहीं, विवृति की प्रतियों में यह कहाँ से आकर छुस गया है?

विवृति—यह विवृति लघीयस्थ्यकार की ही कृति है जैसा कि हम आगे प्रमाणित करेंगे। प्रथम परिच्छेद के प्रारम्भ के दो श्लोकों पर, पञ्चम परिच्छेद के अन्तिम दो पद्यों पर, षष्ठि परिच्छेद के आदि श्लोक पर तथा सातवें परिच्छेद के अन्तिम दो पद्यों पर विवृति नहीं है, शेष पर है।

**न्यायकुमुदचन्द्र**—उक्त दोनों ग्रन्थों के व्याख्यान का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। सन्धियों में इसे लघीयस्थ्यलङ्घकार विशेषण से अभिहित किया है। विवृति की किसी २ प्रति की सन्धियों में “भट्टाकलङ्घविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे” लिखा है और पूष्पदन्तकृत आदिपुराण के टिप्पण में भी किसी टिप्पणकार ने अकलंक को न्यायकुमुदचन्द्रोदय का कर्ता लिखा है। किन्तु यह केवल भान्ति है जो लेखकों की कृपा का फल है अतः मूल ग्रन्थ का नाम लघीयस्थ्य और व्याख्यानग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र ही जानना चाहिए। प्रारम्भ के दो परिच्छेदों पर खूब विस्तृत व्याख्यान किया है और अन्य दर्शनों में अभिमत प्रमाण और प्रमेय की चर्चा का मण्डपूर्वक खण्डन करने के कारण इन दो परिच्छेदों की व्याख्या का परिमाण शेष पाँच परिच्छेदों की व्याख्या के लगभग बराबर बैठ जाता है। इसी से इस खण्ड में केवल दो ही परिच्छेद दिये गये हैं। अवशिष्ट पाँच परिच्छेद दूसरे खण्ड में रहे हैं। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता ने प्रत्येक परिच्छेद के व्याख्यान के अन्त में समाप्तिसूचक पद्य दिये हैं और ग्रन्थ के अन्त में अपनी प्रशस्ति भी ही है। मूलग्रन्थ से व्याख्यान का परिमाण लगभग पन्द्रहगुणा है।

## २. ग्रन्थों पर समालोचनात्मक विचार लघीयस्थ्य सविवृति

**प्रकरणग्रन्थ**—ग्रन्थपरिचय में हम लिख आये हैं कि लघीयस्थ्य एक प्रकरण है। जो शास्त्र के एकदेश से सम्बन्ध रखता हो, तथा जिसमें, शास्त्र में अप्रतिपादित विषयों पर भी प्रकाश ढाला गया हो उसे प्रकरण कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार लघीयस्थ्य शास्त्र अर्थात् मोक्षशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के एक देश से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में मुख्यतया जीवादि तत्त्वों का निरूपण है किन्तु प्रथम अध्याय में प्रमाण, नय और निक्षेप की भी चर्चा की गई है। परन्तु लघीयस्थ्य में प्रमाण, नय और निक्षेप की ही विस्तृत चर्चा की गई है, तथा कुछ ऐसे विषयों पर भी प्रकाश ढाला गया है, जो तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित नहीं हैं, अतः वह प्रकरण कहा जाता है। यद्यपि गौतम ने न्यायसूत्र की रचना करके वस्तुपरीक्षा में उपयोगी प्रमाण, वाद आदि साधनों पर क्रमबद्ध ग्रन्थ रचने की प्रणाली को प्रचलित किया और उसके बाद नागार्जुन, आर्यदेव, मैत्रेय, वसुवन्तु आदि बौद्धतैयायिकों ने उन पर अनेक ग्रन्थ रचे, किन्तु इस ढंग के सुसम्बद्ध प्रकरणग्रन्थ रचने का सर्वप्रथम श्रेय बौद्धदर्शन में आचार्य दिङ्गनाग को और जैनदर्शन में आचार्य सिद्धसेन से पहले आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रबचनसार नामक ग्रन्थ में दर्शनिक शैली का अवलम्बन लिया और सूत्रकार उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण और नय की चर्चा की, किन्तु आचार्य

१ “शास्त्रैकेदशसम्बद्ध शास्त्रकार्यान्तरे रित्यतम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थमेऽविष्यितः ॥” सप्तपदाणी।

सिद्धसेन ने प्रमाण और नय का निरूपण करने के लिये ही न्यायावतार नाम का स्वतंत्र प्रकरण रचा। जैनवाङ्मय में न्योग का अवतार करनेवाले श्री सिद्धसेन ही हैं।

दिङ्ग्नाग को बौद्धदर्शन का पिता कहा जाता है। उनका प्रमाणसमुच्चय मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्र का एक प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। दिङ्ग्नाग के ग्रन्थों का अवलम्बन लेकर ही धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक प्रमाणविनिश्चय आदि ग्रन्थरत्नों की रचना की थी। सिद्धसेन, दिङ्ग्नाग और धर्मकीर्ति के प्रमाणविषयक प्रकरणों ने लघीयस्थय की रचना में योगदान किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। मध्यकालीन भारतीयन्याय के निर्माता जैन और बौद्ध ग्रन्थकारों के प्रमाणविषयक इन प्रकरणों के सम्बन्ध में डाँ विद्याभूषण ने लिखा है—

“The prakaranas ( Manuals ) are in fact remarkable for their accuracy and liccidity as well as for their direct handling of various topics in their serial orders. Definitions of terms are broad and accurate and not full of niceties.” Indian logic, P. 356.

अर्थात्—ये प्रकरण अपनी सुगमता और यथार्थता के लिये उल्लेखनीय हैं। साथ ही साथ विभिन्न विषयों पर क्रमबद्धरूप में ये साक्षात् प्रकाश डालते हैं। इनमें दत्त परिमाणाँ समृद्ध और यथार्थ होती हैं।

रचनाशैली—ग्रन्थकार ने अपने सभी प्रकरणों में प्रायः एक ही शैली का अनुसरण किया है। प्रारम्भ में वे मंगलाचरण करते हैं, उसके बाद एक पद्य के द्वारा कण्टकशुद्धि आदि करके प्रकृत विषय का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं। प्रकृत ग्रन्थ, न्यायविनिश्चय तथा सिद्धविनिश्चय में यही क्रम अपनाया गया है। वे अपने प्रकरणों को केवल कारिकाओं में ही रचकर समाप्त नहीं करते, किन्तु उन पर वृत्ति भी रचते हैं। अब तक उनका एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं भिला, जिसपर उन्होंने वृत्ति न रची हो। वृत्ति रचने का उनका उद्देश्य केवल कारिकाओं का व्याख्यान करना ही नहीं होता किन्तु उसके द्वारा वे कारिका में प्रतिपादित विषय से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विषयों का विवेचन और आलोचन भी करते हैं। किसी किसी कारिका की वृत्ति तो कारिका के आशय पर प्रकाश न डालकर नूतन बात का ही चित्रण करती है। अकलंकदेव की अन्य रचनाओं की अपेक्षा लघीयस्थय और उसकी विवृति कुछ सुगम प्रतीति होती है, न तो न्यायविनिश्चय की कारिकाओं के जितनी उसकी कारिकाएँ ही दुरुहृ हैं और न अष्टशती के जितनी वृत्ति ही गहन है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उसमें अकलंकदेव की प्रखर तर्कणा और गहन रचना की छाप नहीं है। वास्तव में अकलंकदेव के वाक्य अतिगम्भीर अर्थवृहुल मूत्र जैसे होते हैं और उनका पूर्वपरस्परव्य जोड़ने के लिये स्थाद्वादविद्यापति विद्यानन्द और अनन्तवीर्य जैसे प्रतिभासंपन्न विद्वानों की आवश्यकता होती है। लघीयस्थय और उसकी विवृति को बाँचने से विद्वान् उनकी गहनता का अनुमान कर सकेंगे। लघीयस्थय की कारिकाएँ, उनकी विवृति, परिच्छेद, प्रमाणविषयक चर्चा और रचनाशैली दिङ्ग्नाग के प्रमाणसमुच्चय और उसकी स्वोपज्ञविवृति का स्मरण कराती हैं। तथा, उसके तीन प्रकरणों का प्रवेश नाम दिङ्ग्नाग के न्यायप्रवेश का ऋणी प्रतीत होता है।

१ “प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। तत्र ननुपलब्धे न निर्णयेऽप्यन्यायः प्रवर्तते, किन्तु हृः ? संशयिते ।”  
न्यायभाष्य ११११।

लघो० और विवृति में आगत विशेष स्थल, नाम आदि—लघीयख्य की तीसरी कारिका के अन्त में ‘प्रमाण इति संग्रह’ पद आता है। ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थ प्रमाणसंग्रह और न्यायविनिश्चय में भी यह पद आता है। यह पद सूत्रकार उमास्वाति के ‘तत्प्रमाणे’ (११०) सूत्र की ओर सङ्केत करता है। उमास्वाति ने ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष विभाग करके उन्हें प्रमाण कहा है। उन्हीं का अनुसरण करते हुए अकलंकदेव भी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों का ‘प्रमाणे’ पद में संग्रह करते हैं। तीसरी कारिका की विवृति में अकलंकदेव ने ‘अपैर’ शब्द से किसी वादी के मत का उल्लेख किया है, व्याख्याकार प्रभाचन्द्र उसे दिङ्गाग का मत बतलाते हैं। चतुर्थ कारिका की विवृति में ‘जैभिन्न’ का नाम आया है। बीसवीं कारिका की विवृति में ‘ग्रामधानक’ शब्द आता है, प्रभाचन्द्र उसे किसी ग्राम का नाम बताते हैं।

इनके सिवा विवृति में कुछ ऐसे अंश भी पाये जाते हैं, जो ग्रन्थान्तरों से लिये गये हैं। उनमें से कुछ अंश तो ऐसे हैं जो उद्घरणावाक्यों के तौर पर लिये गये हैं। किन्तु कुछ अंश विवृति के ही अङ्ग बन गये हैं और इस प्रकार विवृतिकार के ही रचित प्रतीत होते हैं। दूसरों के वचनों को इस प्रकार मूल में सम्मिलित कर लेने की परिपाठी बहुत प्राचीन है। गौतम के न्यायसूत्र, वास्त्यायन के भाष्य, तथा कुमारिल के श्लोकवार्तिक में इस प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह, हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, और विद्यानन्द के तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक में तो इतर ग्रन्थकारों की ऐसी अनेकों कारिकाएँ हैं जो प्रमाणरूप में या पूर्वपक्ष के रूप में मूल में सम्मिलित कर ली गई हैं।

आठवीं कारिका की विवृति में “अर्थक्रियासमर्थ परमार्थसत् इत्यङ्गीकृत्य” ऐसा लेख है, यह धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की कारिका का ही अंश है। तेहसवीं कारिका की विवृति “सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं” इत्यादि वाक्य से प्रारम्भ होती है। यह वाक्य भी प्रमाणवार्तिक की कारिका (३-१२४) का अविकल रूप है। २८ वीं कारिका की विवृति में आये ‘वक्तुरभित्तें तु वाचः सूचयन्ति नार्थम्’ इस मत को प्रभाचन्द्र धर्मकीर्ति का मत बतलाते हैं। ४१ वीं कारिका की विवृति में तिन्नलिखित कारिका उद्भृत है—

१ प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं श्रुतमविप्लवम् । परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाण इति संग्रहः ॥ २ ॥ २ प्रत्य-  
शमज्ञासा स्पृष्टमन्यच्छु नमविप्लवम् । प्रकृणीं प्रत्यभिज्ञादी प्रमाण इति संग्रहः ॥ ३-४३ ॥ ३ ० न दि तत्त्वज्ञा-  
नमिषेव यथायनिर्णयसाधनम् । इयपरः ।

४ “There are in it passages which were quoted almost verbatim from the Lankavatara sutra, Madhyamik sutra and other Buddhist works which were composed about the third or fourth century A. D.” “न सन् नासन सदसत् सतो वैधर्म्यात् ।” न्या० स० ४।१।४५, “न सन् नासन सदसन् धर्मो निर्वर्तते यदा ।” मा० स० ० परि० ७ । “मायागन्धर्वनगरमृगतुष्णिकावद् वा” न्या० स० ४।२।३२ । “यथा माया यथा स्वप्नो गन्ध-  
र्वनर्वं यथा ।” मा० स०, परि० ५, Indian logic ( S. C. Vidyabhushan ) ५ “दश दाढ़ि-  
माणि, षडपूरा:, कुडमजाजिनम्, पल्लपिण्डः ।” ५।१।१०। यह पातजलमहाभाष्य १।१।३ का  
वाक्य है। ६ “पारार्थं चक्षुरादीनो संघाताच्छयनादिवत् ।” १।०५, ॥ ॥ अनु० परी० । यह दिङ्गाग के  
न्यायप्रवेश के “परार्थाच्चक्षुरादीनः संघाताच्छयनादिवत् ।” का ही रूप है। ७ “अर्थक्रियासमर्थ  
यत्तद्रव परमार्थसत् ।”

गुणानां परमं स्वयं न हष्टिपथमृच्छति ।

यत्तु दृष्टिपथशार्तं तन्मायेव सतुच्छकम् ॥

भास्मतीकार वाचस्पति मिश्र इसे वार्षगण्य की बतलाते हैं। योगसूत्र की भास्वती आदि टीकाओं में भी इसे ‘षष्ठितंत्र’ नामक ग्रन्थ की बतलाया है। ५४ वीं कारिका की विवृति में आगत ‘तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षेभादि’ धर्मकीर्ति के न्यायविन्दु (१-६) का ही अंश है। कारिका ६६-६७ की विवृति के अन्त में “ततः तोर्थङ्करवचनसंप्रहविशेषप्रस्तारठयाकारिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकी” आदि वाक्य आता है। यह आचार्य सिद्धसेन के सन्मतितक की तृतीय गाथां की संस्कृत छाया है।

इस प्रकार विवृति में दिङ्गानग, धर्मकीर्ति, वार्षगण्य और सिद्धसेन के ग्रन्थों से वाक्य या वाक्यांश लिये गये हैं।

### न्यायकुमुदचन्द्र

नाम—लघीयरूप्य तथा उसकी विवृति के व्याख्यानग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है, जैसा कि उसके सन्धिवाक्यों में निर्देश किया गया है। किन्तु डा० विद्याशूण, पाठ्क तथा श्रेमीजी आदि अन्वेषकों ने ‘न्यायकुमुदचन्द्रोदय’ नाम से उसका उल्लेख किया है। कुछ शिल्पालेखों में भी न्यायकुमुदचन्द्रोदय ही नाम लिखा है। पुष्पदन्त के महापुराण का जो प्रथम भाग इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है, उसकी टिप्पणी में भी अकलंक का परिचय देते हुए उन्हें न्यायकुमुदचन्द्रोदय का कर्ता लिखा है। इससे पता चलता है कि इस नाम की परम्परा बहुत प्राचीन है। किन्तु न्यायकुमुदचन्द्र की श्र० प्रति के अन्तिम वाक्य को छोड़कर अन्यत्र किसी भी प्रति में उदयान्त नाम नहीं मिलता। संभवतः इसी कारण से पं० जुगल-किशोरजी मुख्तार ने रत्नकरण्डशावकाचार की प्रस्तावना में उदयान्त नाम देकर भी ‘अनेकान्त’ में प्रकाशित अपने एक लेख में न्यायकुमुदचन्द्र नाम ही लिखा है।

चन्द्र के स्थान में चन्द्रोदय नाम प्रचलित होने का कारण संभवतः आदिपुराण का वह श्लोक है, जिसमें चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र कवि की स्तुति की गई है। किन्तु चन्द्रोदय और उसके कर्ता प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र नहीं हैं, इसका निर्णय हम समय-विचार में करेंगे। अतः उसके आधार पर ग्रन्थ का नाम चन्द्रोदय प्रमाणित नहीं होता। तथा प्रभाचन्द्र के दूसरे ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड से भी ‘न्यायकुमुदचन्द्र’ नाम की ही पुष्टि होती है। क्योंकि वह प्रमेयरूपी कमलों का विकास करने के लिये मार्तण्ड है तो यह न्यायरूपी कुमुद का विकास करने के लिये चन्द्रमा है। जब मार्तण्ड के साथ ही उदय पद नहीं है तो चन्द्र के ही साथ कैसे हो सकता है? अतः प्रकृत टीकाग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र ही होना चाहिए।

१ “अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयितुमाह स्म भगवान् वार्षगण्यः—गुणानाम्”<sup>१</sup> इत्यादि। २ “तित्यं-रवयणसंगविसेसपत्वारमूलवागरणां”। ३ हिस्टरी आफ दी मिडिल ऐरेंज इन्डियन लाइब्रेरी, पृ० ३३। ४ ‘अकलंक का समय’ शीर्षक आदि लेख। ५ जैनहितैषी, भाग ११, पै० ४२९। ६ “मुखिः”<sup>२</sup> न्यायकुमुद-चन्द्रोदयकृत नामः। ७ शिरोगा जिले के नगर तालुके का शिलो लें० न० ४६। ७ पृ० ५५। ८ पृ० १३०। ९ चन्द्रोदयप्रयशसं प्रभाचन्द्रकवि स्तुते। कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाङ्गादितं जगत्।

रचनाशैली—न्यायकुमुदचन्द्र की भाषा लिखित और उसका प्रवाह निर्वाच है। उसका आशय न समझ सकनेवाला व्यक्ति भी उसकी धाराप्रवाह गद्य को पढ़ने में अनन्द का अनुभव कर सकता है। क्या भाषासौषुप्त और क्या दर्शनिकरौली, दोनों ही दृष्टि से प्रभाचन्द्र ने अपने पूर्वज और अकलंकसाहित्य के व्याख्याकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। किन्तु तुलना करने पर विद्यानन्द की शैली की अपेक्षा अनन्तवीर्य की शैली की छाप हम उनपर अधिक पते हैं। विद्यानन्द की लेखनी अधिक प्रौढ़ है, अष्टशती की व्याख्या अष्टसहस्री का परिशीलन करने में विद्वानों को भी कट्टसहस्री का अनुभवन करना पड़ता है। विद्यानन्द ने अष्टशती की व्याख्या उस रीति से नहीं की, जिस रीति से साधारणतया व्याख्या की जाती है। उन्होंने पदों के समाप्त तोड़कर उनके पर्यायवाची शब्दों के द्वारा अष्टशती का व्याख्यान नहीं किया, किन्तु उसके साकांक्ष पदों के आदि, मध्य तथा अन्त में आवश्यकतासुसार उन वाच्य, वाक्यांश, शब्द तथा विस्तृत चर्चाओं को स्थान दिया, जिनकी उपस्थिति, उनके गृह रहस्य को अभिव्यक्त कर सकती थी। किन्तु प्रभाचन्द्र की भाषा में न तो उस श्रेणी की प्रौढ़ता ही है और न उन्होंने व्याख्या की उस दुरुहृ और कष्टसाध्य पद्धति को ही अपनाया है। वे अनन्तवीर्य की तरह कारिका का व्याख्यान करके विवृति का व्याख्यानमात्र कर देते हैं। किन्तु इस शैली में भी उनकी अपनी एक विशेषता है। वे कारिका का रहस्योद्घाटन करने के बाद ही विवृति का व्याख्यान नहीं कर डालते किन्तु कारिका और विवृति में प्रतिपादित मन्तव्यों को लेकर विषयियों के मन्तव्य की आलोचना करते हैं। किसी विषय की आलोचना करने से पहले वे उस विषय के समर्थक साहित्य के आधार पर उसका ग्रामांगिक पूर्वपक्ष देते हैं, फिर उसको एक एक सुक्तिको लेकर विषयों के कोटिकम से उसकी घजियाँ उड़ा देते हैं। व्याख्याकार का पाठिष्ठत्य उनके इन पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में निवद्ध निकषों में ही झालकता है। प्रतिवादी को विकल्पजाल में पाँसकर जब वे उसका निरसन करते हैं तो उनकी तर्कणाशक्ति की प्रशंसा करते ही बनती है। यथार्थ में प्रभाचन्द्र टीकाकार की दृष्टि से उतने सफल नहीं हुए हैं जितने विभिन्न शास्त्रीय चर्चाओं की आलोचना और प्रत्यालोचना में सफल हुए हैं। व्याख्याकार की दृष्टि से तो अकलंक के अन्य व्याख्याकारों की अपेक्षा उनका दर्जी सबसे लघु है। न्यायकुमुदचन्द्र के अन्त में जब वे अपनी लघुता का प्रदर्शन करते हुए लिखते हैं—

वोधो मे न तथाविधोऽरति न सरस्वत्या प्रदो वरः ।

साहाय्यञ्च न कस्यचिद्वचनतोऽप्यस्ति प्रबन्धोदये ॥

अर्थात् “न तो सुमे वैसा ज्ञान ही है और न सरस्वत्या ने ही कोइ वरदान दिया है। तथा प्रकृत ग्रन्थ के निर्माण में किसी से वाचनिक सहायता तक भी नहीं मिल सकी है।” तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपनी असामर्थ्य का अनुभव करते हैं। क्योंकि अपने दूसरे ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड के अन्त में उन्होंने इस प्रकार की लघुता प्रकट नहीं की है।

आचार्य प्रभाचन्द्र में अत्यन्त पूज्य बुद्धि रखते हुए अपने मत के समर्थन में हम उनके एक भ्रम का उल्लेख करने के लिये श्रद्धालु पाठकों से क्षमा चाहते हैं। लघुयत्यक्य के तीसरे परिच्छेद की आरम्भिक कारिका निश्चिकार है—

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम् ।

प्राङ्मायोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥

इसका सीधा अर्थ है कि—“मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान, नामयोजना से पहले आद्य अर्थात् सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं और शब्दयोजना होने पर श्रुत अत एव परोक्ष हैं।” आचार्य विद्यानंद और अभ्यवद्वेषसूरि ने इसका यही अर्थ किया है। किन्तु प्रभाचन्द्र ने कारिका की विवृति को दृष्टि में रखकर ‘आद्य’ शब्द का अर्थ ‘कारण’ किया है। विवृति में लिखा है कि धारणा स्मृति का कारण है, स्मृति संज्ञा का, संज्ञा चिन्ता का, आदि आदि। इसी को दृष्टि में रखकर प्रभाचन्द्र उक्त कारिका का अर्थ करते हुए लिखते हैं—“शब्दयोजना से जो अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे श्रुत कहते हैं। तथा शब्दयोजना से पहले शब्दोन्मुख ज्ञान को भी श्रुत कहते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञान श्रुत हैं और उनका कारण मतिज्ञान है।” प्रभाचन्द्रजी के इस भ्रम का एक कारण तो विवृति ही जान पड़ती है। दूसरा कारण, कारिका से स्पष्टतया स्वतः प्रकट होनेवाले अर्थ का आगम और परम्परा के विरुद्ध होना हो सकता है, क्योंकि स्मृति आदि ज्ञानों को किसी ने भी प्रत्यक्ष नहीं माना है। किन्तु अकल्कदेव ने ६१ वीं कारिका की विवृति में स्मृति आदि ज्ञानों को अनिनिदियप्रत्यक्ष के भेद बतलाया है और वही बात इस कारिका में भी कही गई है। अतः यथार्थ में प्रभाचन्द्र दर्शनिक होने की अपेक्षा तार्किक अधिक प्रतीत होते हैं। प्रमेयकमल-मार्तण्ड में, जो कि उनके आरम्भिक काल की रचना है, उनकी तर्कशैली खूब विकसित हुई है।

जैनेतर ग्रन्थों में से जिन ग्रन्थों का न्यायकुमुदचन्द्र की शैली पर विशेष प्रभाव पड़ा है, वे हैं तत्त्वसंप्रह की कमलशीलकृत पठिजका और जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी। क्या भाषासौष्ठुव और क्या प्रतिपादनशैली, दोनों ही दृष्टि से प्रभाचन्द्र कमलशील और जयन्तभट्ट के ऋणी प्रतीत होते हैं। किन्तु उन्होंने इस साहित्यिक ऋण को जिस विद्वत्ता और चाकपुता से व्याजसहित चुकाया है। उसकी सराहना करते ही बनता है। नीचे प्रत्येक दर्शन के तत्त्व ग्रन्थकारों के साथ प्रभाचन्द्र की तुलना क्रमशः की जाती है—

न्यायदर्शन—न्यायदर्शन के न्यायसूत्र, भाष्य, वार्तिक और तात्पर्यटीका का उपयोग प्रभाचन्द्र ने पूर्वपृष्ठ के स्थापन में किया है। न्यायभाष्य के उद्देश, लक्षणनिर्देश, और परीक्षा के क्रमानुसार अपने ग्रन्थप्रयत्नमें भी उन्होंने इसी क्रम को स्थान दिया है। तथा चतुर्थ भेद विभाग का अनन्तर्भाव—न्यायमञ्जरीकार भट्ट जयन्त के ही शब्दों में—उद्देश में किया है। इस प्रकार पोडश पदार्थ के निरूपण में न्यायसूत्र का प्रमाण रूप से उल्लेख करने पर भी उनका निरूपण भाष्य और मञ्जरी के ही शब्दों में किया है। कहीं कहीं प्रभाचन्द्र ने मञ्जरी के शब्दों को भी ‘यथाचाह न्यायभाष्यकारः’ करके उद्भृत किया है। यद्यपि तात्पर्यटीका का भी अस्पष्ट आश्रय लिया

१ “अत्र अकल्कदेवाः प्राहुः—‘ज्ञानमाद्यं स्मृतिं संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् । प्राङ्मायोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।’” इति । तत्रेव विचार्यते मतिज्ञानाद्याद्याभिनिबोधिकपर्यन्ताच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनादेव इत्यवधारणम् श्रुतयेव शब्दानुयोजनादिति वा ।” त० श्लो० पृ० २३३ । २ “अत्र च यच्छब्द-संयोजनात्राकृ स्वत्यादिक्रमविसम्बादियवहारनिर्वनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूते तु सर्वं श्रुतमिति विभावः ।” सन्मतिं ठी० पृ० ५५३ ।

गया है तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भाष्यवार्तिक और मञ्चरी प्रन्थकार के सामने अवश्य थीं और प्रन्थकार को उनका अच्छा अभ्यास था।

प्रभाचन्द्र और मञ्चरीकार जयन्त—प्रभाचन्द्र को जयन्त की मञ्चरी विशेष प्रिय जान पड़ती है। न्यायदर्शन के बोडशपदार्थ निरूपण में उन्होंने, जहाँ तक हो सका, जयन्त के ही शब्दों का उपयोग किया है। प्रमेय के बारह ही भेद क्यों किये गये, इसके उत्तर में प्रमाणरूप से जयन्त की ही कारिका उद्भृत की है। यद्यपि सामग्रीप्रामाण्य का निर्देश प्रशस्तपाद की व्योमवती टीका में पाया जाता है तथापि उसका स्वतंत्र निरूपण करके इतर मत का निरसन जयन्त ने ही किया है और न्यायकुमुद में उसका खण्डन है। प्रभाकराभिमत ज्ञानव्यापार के पूर्वपक्ष में मञ्चरीगत पूर्वपक्ष से सहायता ली गई है। उत्तरपक्ष में भी कहीं कहीं तो मञ्चरी की पंक्तियाँ ही ले ली गई हैं। चार्चाक के प्रत्यक्षकप्रमाणवाद के पूर्वपक्ष में न्यायमञ्चरी से ही सहारा लिया गया है, उसमें 'अपि च' करके लिखी गई १७ कारिकाएँ भी साक्षात् मञ्चरी से ही ली गई जान पड़ती हैं। इसी प्रकार अन्य भी कई प्रकरणों में मञ्चरी का अनुसरण किया गया है। कहीं कहीं तो इतना सादृश्य है कि उसके आधार पर हम न्यायकुमुद का पाठ शोधन कर सके हैं।

वैशेषिकदर्शन—वैशेषिकदर्शन के निरूपण में प्रशस्तपादभाष्य का मुख्यतया उपयोग किया गया है। तथा व्याख्याओं में भाष्य की टीका व्योमवती का अनुसरण किया गया है। चार्चाक के प्रति आत्मसिद्धि, ज्ञानाद्वैतवादी के प्रति वाहार्थसिद्धि आदि प्रकरणों में प्रयुक्त युक्तियाँ व्योमवती से शब्दशः मिलती हैं। व्योमवती में अनेकान्त भावना से मोक्ष प्राप्ति हो सकने का खण्डन किया गया है उसका खण्डन प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमल में किया है। मोक्षसाधनस्वरूपविषयक खण्डन मण्डन में व्योमवती का साहाय्य स्पष्ट है।

सांख्य-योग—सांख्य-योग के निरूपण में योगसूत्र, व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी, सांख्यकारिका, माठरवृत्ति आदि ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। पूर्वपक्ष के निर्देश में प्रमाणरूप से योगसूत्र का उल्लेख करने पर भी व्याख्यार्थ में व्यासभाष्य का आधार लिया है। इसी तरह प्रमाणरूप से सांख्यकारिका की कारिकाएँ उद्भृत करके व्याख्यार्थ में माठरवृत्ति का उपयोग किया है। कहीं कहीं सांख्यकारिका गोड़पादभाष्य का भी उपयोग किया है। प्राकृत, वैकारिक दक्षिणा आदि तीन वर्णों का स्वरूप माठरवृत्ति से लिया गया प्रतीत होता है।

वेदान्तदर्शन में—ब्रह्माद्वैतवाद के निरूपण में यद्यपि ब्रह्माद्वारण्यक, ज्ञानोदय, आदि उपनिषदों के वाक्यों को प्रमाणरूप से उद्भृत किया है तथापि उसका मुख्य आधार ब्रह्मसूत्र और उसका शांकरभाष्य ही है। शांकरभाष्य के ही शब्दों में ब्रह्माद्वैत का पूर्वपक्ष स्थापित किया है तथा उसी की युक्तियों के आधार पर पूर्वपक्ष में आगत वैषम्य नैवृष्ट्य आदि दोषों का परिहार किया है।

मीमांसादर्शन में—जैमिनिसूत्र, शाङ्करभाष्य और कुमारिल के श्लोकवार्तिक का आधार लेकर शब्दनित्यत्ववाद की स्थापना बड़े विस्तार से की है। स्फोटवाद, अपोहवाद और सुष्टु-कर्तृत्ववाद के खण्डन में कुमारिल का अनुसरण किया है और प्रमाणरूप से श्लोकवार्तिक की कारिकाएँ भी उद्भृत की हैं। सर्वज्ञता के पूर्वपक्ष की रूपरेखा तत्त्वसंप्रह से ली गई जान पड़ती है तथापि श्लोकवार्तिक की युक्तियाँ पूर्वपक्ष में समाविष्ट की गई हैं। प्रभाकर की बृहती में निर्दिष्ट स्मृतिप्रमोष का खण्डन यद्यपि इतर दार्शनिकों ने भी किया है फिर भी जैन

साहित्य में तो सर्वप्रथम प्रेमयकलमार्टिंड में ही उसके दर्शन होते हैं। शालिकानाथ का भी कहीं कहीं अनुसरण किया है। कुमारिल के अभिहितान्बय तथा प्रभाकर के अनिवार्यधान का खण्डन भी प्रभाचन्द्र ने किया है। सर्वविविषयक पूर्वपञ्च के निरूपण में बहुत सी कारिकॉर्एट्स ऐसी उद्भवत हैं जो श्लोकवार्तार्तिक में नहीं पाई जातीं। ऐसी संभावना है कि वे कुमारिल के ब्रह्मदीका नामक ग्रन्थ की कारिकॉर्एट्स हैं।

**बौद्धदर्शन**—भारतीयवर्द्धन शास्त्र के तीन युग कल्पना किये जा सकते हैं—वैदिकयुग, बौद्धयुग और जैनयुग। वैदिकयुग में वेदानुयायी दर्शनों का समावेश किया जाता है जो वेद के प्रामाण्य की रक्षा करते हुए पदार्थ का विवेचन करते हैं। बौद्धयुग में वेदप्रामाण्य का निरसन करके न्यायशास्त्र एवं खबर परिवर्तन और परिवर्द्धन किया गया है। जैनयुग में बौद्धदर्शन की न्यायशास्त्रविषयक रूपरेखाओं का अनुसरण करते हुए आगमिक मन्त्रव्यों को दर्शनिक रूप दिया गया है। जैनयुग के आचार्यों ने किसी किसी मन्त्रव्य के सम्बन्ध में इतने मौलिक विचार प्रकट किये हैं कि उसे पुश्टक युग कहना ही चाहिए। सभी मन्त्रव्यों का स्थानाद्वयित्व से सम्बन्ध करना ही इस युग की विशेषता है।

जैन और बौद्ध दोनों ही वेद को प्रमाण नहीं मानते, अतः वैदिकदर्शनों के स्थण्डन में हम दोनों को कथ्य से कन्धा मिलाये खड़ा देखते हैं कि किन्तु दोनों के खण्डनाश में अपनी अपनी हटिए काम करती है। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र से उपाध्याय यशोविजय पर्यन्त सभी श्रेताम्बर तथा दिग्मार्च विद्वानों पर बौद्धुगा का प्रभाव होने पर भी उनकी मौलिक हटिया सुरक्षित बनी है। वेदविरोधी होने पर भी दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर है अतः दोनों एक दूसरे का भी खण्डन करते हैं। जैनदर्शन का वह अंश बहुत ही महत्वपूर्ण है जिसमें बौद्धसम्पत्त मन्तव्यों की कड़ी आलोचना की गई है। प्रत्युत्र ग्रन्थ में आचार्य दिङ्गनाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, अर्चट, यशोमित्र, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध नैयायिकों के ग्रन्थों का जहाँ स्थण्डन किया है वहाँ परपक्ष के स्थण्डन में उनका सहारा भी लिया गया है।

**वैयाकरणदर्शन—**शब्दाद्वैत के आद्य प्रवर्तक वाक्यपदीयकार भर्तुहरि कहे जाते हैं। प्रकृत-प्रन्थ में स्फोटवाद, शब्दाद्वैतवाद आदि के पूर्वपक्ष के निरूपण में प्रमाचन्द्रन् ने यथापि तत्त्वसंबंध, उसकी परिज्ञाएँ और न्यायमंजरी से साहाय्य लिया है तथापि वे मनत्वय वाक्यपदीय के ही हैं। तथा प्रमाणरूप से उसकी कारिकाएँ भी उद्धृत की गई हैं।

उक्त दर्शनों के प्रन्थों के सिवाय तत्त्वोपसूचनाओं पर तत्त्वोपसूचना में भी अनुसरण प्रभाचन्द्र के प्रन्थों में मिलता है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उसमें निर्दिष्ट विकल्पों के आधार पर ही संशयज्ञान आदि के पूर्वपक्षों का संघटन किया है। तथा समवाय के खण्डन में इस प्रन्थ के बहुत से विकल्पों को अपनाया है।

जैनाचार्य—प्रभाचन्द्रने ने अपने ग्रन्थों में विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का स्मरण किया है और यह भी लिखा है कि अनन्तवीर्य की उत्किञ्चित सहायता से ही वे अकलङ्घ के प्रकरणों को समझने में समर्थ हुए हैं तथा उनके ग्रन्थों का आलोड़न करने से भी यही प्रतीत होता है कि उनपर विद्यानन्द और अनन्तवीर्य की शैली का ही विशेष प्रभाव है। उनके ग्रन्थों से न्याय-कुसुद का जहाँ जहाँ सादृश्य है वहाँ वहाँ टिप्पणी के द्वारा यह बात साध कर दी गई है।

उत्तरकालीन ग्रन्थकारों में जो जैन अन्धकार प्रभाचन्द्र की शैली से प्रभावित हुए तथा जिन्होंने प्रभाचन्द्र के लेखों का अनुसरण किया, उनमें सन्मतिरक्टीका के रचयिता अभयदेव सुरि तथा स्याद्वादरत्राकर के रचयिता वादिदेवसुरि का नाम उल्लेखनीय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के मौलिक मतभेद के आधारभूत दो सिद्धान्त समझे जाते हैं, एक केवलि-मुक्ति और दूसरा स्थीमुक्ति। प्रभाचन्द्र से पहले इन सिद्धान्तों का निषेध और विधि दोनों सम्प्रदाय के आगामिक ग्रन्थों में ही देखे जाते थे किन्तु प्रभाचन्द्र ने पूर्वपक्षस्थापन और उसका खण्डन करके दार्शनिक क्षेत्र में भी इस विवाद को स्थान दिया। अतः उनके बाद अभयदेव सुरि और वादिदेवसुरि ने प्रभाचन्द्र के मार्ग का अनुसरण करके उक्त दोनों सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बरमान्यता का खण्डन करके श्वेताम्बरमान्यता का स्थापन किया। स्याद्वादरत्राकर को प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों के प्रकाश में पढ़ने पर पाठक को पता चलता है कि प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों से रत्नाकर में कितना आदान किया गया है। रत्नाकर के सम्बन्ध में यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि न्यायकुमुद के बहुत से अंश वहाँ आनुपूर्वी से उत्तों के त्यों पाये जाते हैं और न्यायकुमुद के संशोधन में हमें उनसे बहुत सहायता मिली है। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा पर भी परम्परा से प्रभाचन्द्रका प्रभाव है, क्योंकि प्रभाचन्द्र के प्रमेय-कमलमार्णव की रचना के बाद अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला का निर्माण किया था और आचार्य हेमचन्द्र के प्रकरण पर प्रमेयरत्नमाला का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। मलिलेषण की स्याद्वादमञ्जरी, तथा उपाध्याय यशोविजयजी पर भी प्रभाचन्द्र की शैली का प्रभाव पड़ा है। उपाध्यायजी ने उनके विकल्पजालों को अपने ढंग से अपनाया है।

इस प्रकार जैन तथा जैनतर दार्शनिकों के साथ प्रभाचन्द्र की तुलना करने से प्रभाचन्द्र के अगाध पाठित्य और अनुपम तर्कशैली की रूपरेखा हृदय में अंकित हो जाती है और उसके प्रकाश में हम देखते हैं कि तत्त्वस्थापन में साम्प्रदायिक दृष्टि होते हुए भी दार्शनिक क्षेत्र में ज्ञान के आदानप्रदान में साम्प्रदायिकता नहीं थी और न एक दर्शन के विद्वान् इतर दर्शनों का परिशीलन करने से विमुख ही होते थे। यदि पुरातन दार्शनिक विपक्षी दार्शनिकों के शास्त्रों के अध्ययन से मुख मोड़े रहते तो वे कभी भी दार्शनिक क्षेत्र में सफल नहीं हो सकते थे और न उन प्रथरत्रों का निर्माण ही कर सकते थे जिन पर न केवल उस समाज को ही बल्कि भारतवर्ष को अभिमान है।

### ३. विषयपरिचय

लघीयस्थ खोपक्षविवृति और न्यायकुमुदचन्द्र का विषयपरिचय एक साथ देने से तुलनात्मक अध्ययन के निम्नों को सरलता रहेगी, तथा अन्य भी कई आवश्यक वातां पर प्रकाश पड़ सकेगा, अतः तीनों का संक्षिप्त विषयपरिचय क्रमशः एकसाथ दिया जाता है।

#### प्रथम परिच्छेद

का० १-२—प्रथम कारिका के द्वारा तीर्थंकरों को नमस्कार और दूसरी के द्वारा कण्टकशृद्धि की गई है। न्या० कु० में प्रथम कारिका की केवल व्याख्या की गई है और दूसरी का व्याख्यान करते हुए बौद्धों के सन्तानवाद की विस्तार से आलोचना की है।

का० ३—तीसरी कारिका में स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाकर उसके दो भेद किये हैं, एक मुख्य प्रत्यक्ष और दूसरा सांघविहारिक प्रत्यक्ष, तथा शेष अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष बतलाया है। विवृति में अज्ञानरूप सञ्चिकर्षादि के प्रामाण्य का निरसन करके तत्त्व का निर्णय करने में साधकतम ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है।

न्या० कु० में सम्बन्ध, अभिधेय आदि की चर्चा करके कारिका का व्याख्यान करने के बाद, विवृति का व्याख्यान करते हुए, यौगों के सञ्चिकर्षाद, भट्ट जयन्त के कारकसाकल्पयाद, सांख्यों के इन्द्रियवृत्तिवाद, प्राभाकरों के ज्ञातुव्यापारवाद, बौद्धों के निर्विकल्पकप्रामाण्यवाद तथा विपर्ययज्ञान को भिन्न २ रूप से मानने वाले वाक्यों की विवेकाख्याति आदि विप्रतिपत्तियों का निरसन करके प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्चाक की आलोचना की है।

सम्बन्ध—विवृति के सञ्चिकर्षादि शब्द से विभिन्न प्रामाण्यवादों का सङ्कलन किया है। विपर्यास शब्द का अवलम्बन लेकर स्थातियों की चर्चा की है और परोक्षप्रमाण का समर्थन करने के लिये चार्चाक के मत की आलोचना की है।

का० ४—में वैश्वद और अवैश्वद का स्वरूप बतलाया है। उसकी विवृति में सांघविहारिकप्रत्यक्ष के दो भेद—इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष—करके अतीनिन्द्रियज्ञानी सर्वज्ञ की सिद्धि की है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व, चक्षु के प्राप्यकारित्व सर्वज्ञाभाव तथा सांख्य और यौग के ईश्वरवाद की आलोचना की है।

सम्बन्ध—इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की चर्चा व्याख्याकार से ही सम्बन्ध रखती है विवृति में उसका संक्षेत तक भी नहीं है। विवृतिकार ने सर्वज्ञ की चर्चा की है और उसी के सम्बन्ध से व्याख्याकार ने ईश्वरवाद का खण्डन किया है।

का० ५—में अवमह, ईहा और अवाय का स्वरूप बतलाया है। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए प्रसङ्गवश, विषय, विषयी, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय तथा लिंग और उपयोग का भी स्वरूप बतलाया है। तथा यह भी बतलाया है ज्ञान के इन भेदों में अवस्थाभेद से नामभेद है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए संवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत, आदि की आलोचना की है। तथा इन्द्रियों को भौतिक मानने वाले नैयायिक और आहङ्कारिक मानने वाले सांख्यों के मत की समीक्षा करके अतीनिन्द्रियशक्ति का समर्थन किया है। अन्त में ज्ञान की साकारता की भी चर्चा की है।

सम्बन्ध—इन्द्रियों का विषय द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु बतलाने के कारण व्याख्याकार ने अद्वैतवादों की समीक्षा की है। इन्द्रियों को पौद्गलिक सिद्ध करने के लिए नैयायिक और सांख्य की समीक्षा की है। लिंग के लक्षण में आगत शक्तिशब्द का आश्रय लेकर शक्ति की सिद्धि की है। 'अर्थ' पद से ज्ञान की साकारता, निराकारता की चर्चा की है।

का० ६—के पूर्वार्द्ध में धारणा का स्वरूप बतलाकर उन्हें मतिज्ञान का भेद बतलाया है। विवृति में धारणा को ही संस्कार नाम देकर, ईहा और धारणा को ज्ञानस्वरूप मानने की सम्भवति दी है। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र है।

का० ६-७—में उक्त चारों ज्ञानों में से प्रत्येक के बहु, घुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, भ्रुव, तथा इनके विपरीत एक, एकविध आदि भेद करके मतिज्ञान के ४८ भेद किये हैं और

स्वसंवेदन ज्ञान के भी इतने ही भेद माने हैं। तथा प्रमाण और फल की व्यवस्था करते हुए पूर्व पूर्व ज्ञान को प्रमाण और उत्तर उत्तर ज्ञान को उनका फल बतलाया है विवृति में बौद्धाभिमत प्रमाण-फलव्यवस्था का खण्डन करके स्वभत का समर्थन किया है।

न्या० कु० में कारिका के 'स्वसंविदाप्' पद के आधार पर अस्वसंवेदज्ञानवादी मीमांसक और सांख्य के तथा ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादी नैयायिकों के मत की आलोचना करके ज्ञान को स्वसंवेदी सिद्ध किया है। तथा स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना करके अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः प्रामाण्य की स्थापना की है। स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना मूलकार से सम्बन्ध नहीं रखती। अन्त में विवृति का व्याख्यान करते हुए प्रमाण और फल के सर्वथा भेदवाद का निरसन करके कथचित् तादात्म्य का समर्थन किया है।

### द्वितीय परिच्छेद

का० ७—के उत्तरार्द्ध में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय बतलाया है। विवृति में उसी का समर्थन करते हुए कहा है कि अनेकान्त से ही वस्तु की सिद्ध हो सकती है, भैदैकान्त या अभैदैकान्त से नहीं, तथा बौद्धों का स्वलूप्त्ति और अद्वैतवादियों का सामान्य प्रमाण का विषय नहीं हो सकते। न्या० कु० में विवृति में प्रतिपादित भैदैकान्त और अभैदैकान्त की अनुपलब्धि के आधार पर वैरोधिक के षट्पदार्थवाद, नैयायिक के बोधशपर्दवाद, सांख्य के पञ्चविंशतितत्त्ववाद और चार्चाक के भूतचैतन्यवाद का विस्तार से खण्डन किया है। अन्त में द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भेद मानने वाले यौगों का निरसन करके कथचित् भेदभेद की स्थापना की है।

का० ८—में बतलाया है कि नित्येकान्त और क्षणिकैकान्त में अर्थकिया नहीं हो सकती। विवृति में वस्तु की ही उसकी अर्थकिया कहने वाले बौद्धों का उपहास करते हुए क्षणिकवाद में अर्थकिया के अस्तित्व की आलोचना की है। न्या० कु० में सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य वस्तु में अर्थकिया का अभाव सिद्ध करके, प्रसङ्गवश वैभाषिकों के प्रतीत्यसमुपादानवाद का खण्डन किया है।

का० ९—के पूर्वार्द्ध तथा उसकी विवृति में निरंशज्ञानवादी यौगाचार को उत्तर देते हुए एकत्र में विकिया और अविकिया का अविरोध प्रमाणित किया है। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र है।

का० १०—के उत्तरार्द्ध और १० के पूर्वार्द्ध में संवेदनादैत्यवादी का दृष्टान्त देकर तत्त्व को अनेकान्तात्मक सिद्ध किया है। विवृति में उसी का स्पष्टीकरण करते हुए द्रव्यपर्यायात्मक आन्तर और बाह्य वस्तु को ही प्रमाण का विषय बतलाया है। न्या० कु० में सत्ता के समवाय से वस्तु को सत् मानने वाले यौगों का निरसन करके उत्तरद्रव्ययग्नौव्यात्मक वस्तु को ही सत् बतलाया है।

### तीसरा परिच्छेद

का० १०—के उत्तरार्द्ध और ११ के पूर्वार्द्ध में मति, स्तुति आदि ज्ञानों को शब्दोजना नियेक्ष होने से प्रत्यक्ष और शब्दयोजना सापेक्ष होने से परोक्ष बतलाया है। विवृति में उत्तरज्ञानों को पूर्वज्ञानों का फल बतलाकर स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानों को प्रमाण माना है।

न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को पृथक् प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ११—के उत्तरार्द्ध और १२ के पूर्वार्द्ध में बतलाया है कि साध्य और साधन के अविनाभावसम्बन्ध को न तो निर्विकल्पकप्रत्यक्ष जान सकता है और न सविकल्पक, अतः उसके जानने के लिये तर्क नाम का प्रमाणान्तर मानना चाहिए। विवृति में भी इसी का समर्थन किया है। न्या० कु० में यौग और बौद्धों के इस मत की, कि प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले सविकल्पक ज्ञान से व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है, विस्तार से आलोचना की है और सिद्ध किया है कि इन्द्रिय मानस और योगिप्रत्यक्ष व्याप्ति को ग्रहण करने में असमर्थ हैं।

का० १२—के उत्तरार्द्ध और १३ के पूर्वार्द्ध में अनुमान प्रमाण का लक्षण और उसका फल बतलाया है। विवृति में विधिसाधक हेतु के केवल दो ही भेद-स्वभाव और कार्य-मानने वाले बौद्धों का खण्डन किया है। न्या० कु० में बौद्धों की आलोचना करते हुए, अनुमान में पश्चप्रयोग को आवश्यक बतलाया है। किर त्रैस्त्य और पाञ्चस्त्य को हेतु का लक्षण मानने वाले बौद्ध और यौगों की मान्यता का निरसन करके विवृति के मन्तव्य को पुष्ट किया है।

का० १३—के उत्तरार्द्ध और उसकी विवृति में जलचन्द्र का दृष्टान्त देकर कारणहेतु का समर्थन किया है। कुमारिल का मत है कि जल आदि स्वच्छ वस्तुओं में हमें मुख आदि का जो प्रतिविम्ब विखाई देता है, वह प्रतिविम्ब नहीं है, किन्तु हमारी नयनरशिमयां जल से टकराकर लौटती हुई हमारे ही मुख को देखती हैं, उसे हम भ्रान्ति से जलगत विम्ब का दर्शन समझ लेते हैं। न्या० कु० में इस मत की आलोचना की है और प्रमाणित किया है कि स्वच्छ वस्तुओं में दूसरी वस्तुओं का प्रतिविम्ब पड़ सकता है।

का० १४—में पूर्वचर हेतु का समर्थन किया है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए लिखा है कि बौद्धों के अनुमान के तीन प्रकार और नैयायिकों के पांच प्रकार का नियम नहीं बनता। तथा सांख्य के अनुमान के सात प्रकारों का स्वरूप समझाकर उनकी संख्या के नियम को भी पूर्वचर उत्तरचर आदि हेतुओं के आधिक्य से विघटित किया है।

का० १५—में बतलाया है कि अद्यशानुपलब्धि से भी वस्तु के अभाव का ज्ञान हो सकता है। विवृति में उसी को स्पष्ट किया है। न्या० कु० में, अभाव को जानने के लिये अभाव नाम का एक पृथक् प्रमाण मानने वाले मीमांसकों के मत की विस्तार से आलोचना की है। और सिद्ध किया है कि अभाव भी वस्तु का ही धर्म है। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही उसका ज्ञान हो सकता है।

का० १६—में बौद्धों को उत्तर देते हुए लिखा है कि सविकल्पकप्रत्यक्ष से क्षणभज्ञता की प्रतीति नहीं होती, उससे तो स्थिर स्थूलाकार पदार्थ की ही प्रतीति होती है। विवृति में भी कारिकोक्त मन्तव्य का समर्थन किया है। इस प्रकार बौद्धों के अनुपलब्धिहेतु की आलोचना करने के बाद।

का० १७—में उनके स्वभाव और कार्यहेतु की आलोचना की है। विवृति में भी उसी का स्पष्टीकरण करते हुए, तर्कप्रमाण के विना अनुमान-अनुमेय तथा कार्य-कारण व्यवहार की अनुपपत्ति बतलाई है।

का० १८—में कहा है कि बौद्धमत में विकल्पवुद्धि ही सिद्ध नहीं होती। विवृति में उसी का स्पष्टीकरण करते हुए, सविकल्पकवुद्धि का स्वतः और परतः निर्णय मानने में दोष बतलाये हैं। न्या० कु० में १६, १७ और १८ कारिका का व्याख्यानमात्र किया है।

का० १९—में नैयायिक के उपमान प्रमाण की आलोचना करते हुए कहा है—यदि सादृश्यज्ञान को उपमान नामका प्रमाण नामते हो तो वैसादृश्य ज्ञान को किस प्रमाण के नाम से पुकारोगे ? विवृति में नैयायिकों की प्रमाणसंख्या का विघटन किया है। सीमांसक और नैयायिक के उपमान प्रमाण की परिभाषा में थोड़ा सा अन्तर है। अकलंकदेव ने केवल नैयायिक की परिभाषा का उल्लेख किया है किन्तु न्या० कु० में नैयायिक और सीमांसक, दोनों के लक्षणों की आलोचना की है और प्रमाणित किया है कि सादृश्यप्रत्यभिज्ञान से अतिरिक्त उपमाननाम का कोई प्रमाण नहीं है। नैयायिक के मत की आलोचना करते हुए प्रभाचन्द्र ने बुद्धनैयायिकों के एक मत का उल्लेख किया है, जो आप पुरुष के 'गौ' के समान गवय होता है। इस सादृश्यप्रतिपादक वाक्य को ही उपमानप्रमाण कहते हैं। प्रभाचन्द्र ने इसे आगम-प्रमाण बतलाया है।

का० २०—में कहा है कि यदि वाच्याचक सम्बन्ध का ज्ञान प्रमाण नहीं है तो सादृश्य सम्बन्ध का ज्ञान उपमान भी प्रमाण नहीं हो सकता। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जैसे किसी मनुष्य ने किसी आपसुरूप से जाना कि अमुक नगर से अमुक दिशा में अमुक नाम का ग्राम है और उसकी अमुक अमुक पहचान है। मनुष्य उस ग्राम के निकट पहुँच कर आप पुरुष के बच्चों को स्मरण करके जान जाता है कि अमुक नाम का ग्राम यही है। इस प्रकार के संज्ञा और संज्ञी के सङ्कलनरूप ज्ञान को उपमान की तरह पृथक् प्रमाणा-न्तर मानना चाहिए। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र किया है।

का० २१—में स्मृति और प्रत्यक्ष के सङ्कलनात्मक ज्ञान के बहुत से भेद बतलाकर उन्हें उपमान से पृथक् प्रमाणान्तर आपादित किया है। विवृति में कारिका के मनतङ्ग को स्पष्ट करके अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव किया है। न्या० कु० में अर्थापत्ति प्रमाण के सम्बन्ध में कुमारिल के मत की विस्तार से आलोचना की है।

### चतुर्थपरिच्छेद

का० २२—में लिखा है कि तैमिरिक रोगी का ज्ञान भी कथञ्चित् प्रत्यक्षाभास है। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि तैमिरिक रोगी को दो चंद्रमा दिखाइ देते हैं, अतः उनका ज्ञान केवल संख्या के सम्बन्ध में ही विसम्बादी है, चंद्रमा के सम्बन्ध में नहीं। अतः द्विचन्द्र-ज्ञान को सर्वथा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

का० २३—में सविकल्पकज्ञान को प्रमाण और विवृति में निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाणा-भास बतलाया है।

का० २४—में 'प्रत्यक्षबुद्धि' में कल्पना या विकल्प की प्रतीति नहीं होती अतः उसे निर्विकल्पक ही मानना चाहिए' बौद्ध के इस मत की आलोचना की है। विवृति में भी उसी बात को समझाया है।

का० २५—में प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था करते हुए बतलाया है कि प्रत्यक्ष स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि पूर्वोक्त ज्ञान प्रमाण हैं क्योंकि उनसे व्यवहार में कोई विसंवाद उप-

स्थित नहीं होता। किन्तु यदि उनमें से कोई ज्ञान कवचित् कदाचित् वस्तु का ठीक ठीक प्रतिभास नहीं करा सकता तो उसे प्रमाणभास समझना चाहिए। विद्युति में भी कारिका के मन्तव्य को स्पष्ट किया है। न्या० कु० में कारिका २२ से २५ तक का व्याख्यानमात्र है।

का० २६—में कहा है कि श्रुतज्ञान भी प्रमाण है। विद्युति में बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि शावद्ज्ञान से बाह्य अर्थ का बोध होता है। न्या० कु० में शावद्ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहने वाले वादी के मत का खण्डन किया है। शावद्ज्ञान को अप्रमाण मानने वाले वादियों का निरसन करके उसे प्रमाण सिद्ध किया है। शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध की आलोचना करके उनका कथचित् नित्य सम्बन्ध बतलाया है। बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन करके केवल सामान्य को शब्द का विषय माननेवालों का निरसन किया है। और विधि नियोग भावना आदि को शब्द का अर्थ माननेवाले वेदान्ती भाष्ट आदि के मत की विस्तार से आलोचना की है।

का० २७—में कहा है कि कवचित् कदाचित् श्रुतज्ञान को विसंवादी देखकर यदि उसे सर्वत्र सर्वदा मिथ्या ही माना जाएगा तो प्रत्यक्ष और अनुमान को भी सर्वत्र मिथ्या मानना होगा, क्योंकि कभी कभी ये भी विसंवादी हो जाते हैं। विद्युति में कारिका के मन्तव्य का समर्थन किया है।

का० २८—में कहा है कि यदि आपपुरुष के बचन और हेतुप्रयोग से बाह्य अर्थ का नित्य नहीं मानते हो तो सत्य और असत्य बचनों की तथा साधन और साधनभास की व्यवस्था किस प्रकार हो सकती है? विद्युति में उदाहरण देकर कारिका के मन्तव्य को स्पष्ट किया है।

का० २९—में बतलाया है कि यदि पुरुषों के मनोगत भावों में और बचनों में अन्तर देखकर बचन को अर्थ का व्यभिचारी कहा जाता है तो विजातीय कारण से कार्योत्पत्ति की संभावना मानकर विशिष्ट कार्य से विशिष्ट कारण का अनुमान नहीं किया जा सकता। विद्युति में, बौद्धों के स्वभाव और कार्य हेतु में व्यभिचार की संभावना बतलाकर कहा है कि यदि अन्यथानुपत्ति के बल पर स्वभाव और कार्य हेतु से परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति स्वीकार करते हो तो शावद्ज्ञान से भी अर्थ की प्रतिपत्ति माननी चाहिए। अतः श्रुतज्ञान प्रमाण है। न्या० कु० में २७, २८ और २९ का० का व्याख्यान मात्र है।

### पञ्चम परिच्छेद

का० ३०—में नय और दुर्नय की परिभाषा की है। विद्युति में नय के दो भेद किये हैं— द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक अभेद अर्थात् सत्सामान्य को विषय करता है।

का० ३१—में सत्सामान्य की व्याख्या करते हुए, जीव अजीव आदि समस्त देवप्रभेदों को सत् में अन्तर्भूत बतलाया है। और उसके समर्थन में विज्ञान और जीव का दृष्टान्त दिया है। विद्युति में इसी का स्पष्टीकरण किया है।

का० ३२—में कहा है कि संप्रहनय शुद्धद्रव्य अर्थात् सत्सामान्य को विषय करता है। विद्युति में कारिका के आशय को समझते हुए लिखा है कि कोई भी वस्तु सर्वथा असत् नहीं है तथा कोई भी ज्ञान सत् को जाने विना वस्तु को नहीं जान सकता।

का० ३३—में विशेषवादी बौद्ध को उत्तर देते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष में बौद्धकटिपत निरंशक्तियों की प्रतीति नहीं होती। विद्युति में भी प्रकारान्तर से इसी बात का समर्थन किया है।

का० ३४—में बतलाया है कि जैसे बौद्धमत में एक ज्ञान अपने अनेक आकारों के साथ प्रतिभासमान होता है उसी प्रकार जीवादि वस्तु अपने अनेक गुणों और पर्यायों के साथ सर्वदा प्रतिभासमान होती है। यहाँ क्षणपरम्परा में अनुस्यूत एक द्रव्य को न माननेवाले बौद्धों के प्रति ऊर्ध्वता सामान्य की सिद्धि की गई है और विवृति में भी उसी का समर्थन किया है।

का० ३५—में कहा है कि वस्तु का लक्षण अर्थक्रिया है, किन्तु यह लक्षण क्षणिकैकान्त में नहीं रहता, क्योंकि यदि कारण के रहते हुए ही कार्य की उत्पत्ति होती है तो कार्यकारणभाव नहीं बन सकता। विवृति में भी इसी के सम्बन्ध में विशेष कहा है।

का० ३६—में कहा है कि कारण के रहते हुए यदि कार्य की उत्पत्ति न हो सकती तो क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया का सिद्ध करना उचित होता, किन्तु ऐसा नहीं है, कारण के कथचित् रहते हुए ही कार्य की उत्पत्ति होती है। विवृति में व्यतिरेकरूप से कारिका का व्याख्यान करते हुए क्षणिकैकान्त में कार्योत्पत्ति का निषेध किया है।

का० ३७—और उसकी विवृति में बौद्धों के क्षणिक स्वलक्षण और ज्ञानक्षण का उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि एक वस्तु अनेक कार्य कर सकती है और अनेक धर्मों में व्याप्र होकर रह सकती है।

का० ३८—में संग्रहनय और संग्रहाभास का विषय बतलाया है। विवृति में कहा है कि 'सन्मात्रा ही तत्त्व है' यह संग्रहनय का अभिप्राय है। किन्तु इस अभिप्राय में भेदभाष्टि का निषेध नहीं है। यदि ऐसा होता तो संग्रहनय के विषय और ब्रह्मवाद में कोई अन्तर ही नहीं होता।

का० ३९—में नैगम और नैगमाभास का स्वरूप बतलाया है। विवृति में कहा है कि गुण गुणी, या धर्म धर्मी में से जब एक का कथन किया जाता है तो दूसरा गौण हो जाता है। यह नैगमनय का अभिप्राय है। किन्तु जहाँ गुण गुणी, अवयव अवयवी, किया कारक, आदि को सर्वथा भिन्न माना जाता है, वह नैगमाभास है।

का० ४०—में यौगों के मत का निराकरण करते हुए कहा है कि सत्ता का सम्बन्ध होने से पहले वस्तु स्वयं सत् है या असत्? यदि सत् है तो सत्ता का सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि असत् है तो खरविषयाण की तरह उसका सत्ता के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। विवृति में कारिका का आशय समझाते हुए, यौगों की तरह सांख्य की मान्यता को भी नैगमाभास में सम्मिलित किया है।

का० ४१—में कहा है कि प्रमाण की व्यवस्था व्यवहाराधीन है। किन्तु वह व्यवहार संग्रहाभास और नैगमाभास में मिथ्या है। अतः जब व्यवहार ही मिथ्या है तो मिथ्या व्यवहार के आधार पर निर्धारित प्रमाणव्यवस्था भी मिथ्या ही होगी, और प्रमाणव्यवस्था के मिथ्या होने पर स्वपक्ष और विपक्ष की सत्यता और असत्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता, अतः या तो दोनों ही सत्य होंगे या दोनों ही असत्य। विवृति में संग्रहाभास और नैगमाभास में प्रमाण की प्रवृत्ति का निषेध किया है।

का० ४२—में व्यवहारनय और तदाभास की चर्चा करते हुए बाह्य अर्थ के अस्तित्व को व्यवहारनय और विज्ञानिवाद तथा शून्यवाद को तदाभास बतलाया है। विवृति में कारिका के आशय को स्पष्ट किया है।

का० ४३—में बतलाया है कि ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान पर्याय को विषय करता है। किन्तु बौद्धकल्पित चित्रज्ञान ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं है क्योंकि वह वास्तव में एक नहीं है।

किन्तु ज्ञानपरमाणुओं का एक समूहमात्र है। विवृति में संवित्परमाणुओं की आलोचना करके अज्ञानस्त्र और तदभास को समझाया है।

का० ४४—में शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय का स्वरूप बतलाया है। शब्दनय काल, कारक और लिङ्ग के भेद से अर्थभेद मानता है। समभिरूढ़ पर्यायभेद से अर्थभेद मानता है। एवंभूत किया की प्रधानता से अर्थ को भेदरूप प्रहण करता है। विवृति में कालभेद, कारकभेद, लिङ्गभेद और पर्यायभेद को उदाहरण देकर समझाया है। बौद्धों के एक दो मन्तव्यों की भी आलोचना की है।

का० ४५—में बौद्धों की आशंका का उत्तर देते हुए कहा है कि बौद्धमत में जब इन्द्रिय-ज्ञान अपने कारणभूत अतीत अर्थ को जानता है तो स्मृति भी अतीत विषय को क्यों नहीं जान सकती? इन्द्रियज्ञान और स्मृति, दोनों का विषय एक है, केवल इतना अन्तर है कि इन्द्रिय-ज्ञान उसे स्पष्ट जानता है और स्मृति अस्पष्ट। विवृति में कारिकोक्त रहस्य को स्पष्ट करके शब्दज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ४६—में कहा है कि शब्दज्ञान और इन्द्रियज्ञान दोनों ही अविसंबादी हैं। केवल इतना अन्तर है कि शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। किन्तु इससे उसकी प्रमाणता में कोई वाधा नहीं आती, क्योंकि अनुमान को अस्पष्ट होते हुए भी-बौद्धों ने प्रमाण माना है। विवृति में इसे स्पष्ट किया है।

का० ४७—में कहा है कि काल कारक आदि का लक्षण अन्यत्र कहा है, वहाँ से जान लेना चाहिए। विवृति में काल कारक का लक्षण बतलाकर कहा है कि एकान्तवाद में घट-कारकी नहीं बन सकती, अतः अनेकान्तवाद को अपनाना चाहिए।

का० ४८—में कहा है कि अनेक समभियों की सहायता से एक वस्तु भी प्रतिसमय घट-कारकरूप हो सकती है। विवृति में कारिका को स्पष्ट करते हुए नय दुर्योग और प्रमाण में अन्तर बतलाया है।

पद्य ४९ और ५० में प्रकरण का उपसंहार करते हुए वीर प्रभु का स्मरण किया है। न्या० कु० में इस परिच्छेद का व्याख्यानमात्र किया गया है।

#### स्पष्ट परिच्छेद

का० ५१—में भगवान् महावीर को नमस्कार करके प्रमाण, नय और निचेप का कथन करने की प्रतिज्ञा की है।

का० ५२—में प्रमाण, नय और निचेप का लक्षण बतलाया है। विवृति में ज्ञान को ही प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ५३—में कहा है कि ज्ञान अर्थ को तो जानता है किन्तु 'मैं अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ' यह नहीं जानता। यदि जानता, तो उसमें किसी को विवाद ही न होता। विवृति में कहा है कि यदि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता तो वह अर्थ को नहीं जान सकता, जैसे इन्द्रियों से उत्पन्न होकर भी वह इन्द्रियों को नहीं जानता है।

का० ५४—में कहा है कि यदि ज्ञान और अर्थ का अन्वय-न्यतिरेक होने के कारण अर्थ को ज्ञान का कारण कहा जाता है तो संशय विपर्य आदि ज्ञान किससे उत्पन्न हुए कहे जायेंगे? विवृति में कहा है कि यदि इन्द्रियगत और मनोगत दोषों को संशयादिज्ञान का जनक कहा जाता है तो अर्थ को ज्ञान का कारण मानने से क्या लाभ है? दोषरहित इन्द्रिय और मन

से ही सत्यज्ञान की उत्पत्ति माननी चाहिए। अतः इन्द्रिय और मन को ज्ञान का कारण, तथा अर्थ को उसका विषय मानना ही श्रेयस्कर है।

का० ५५—में सन्निकर्ष के प्रामाण्य का निरसन करके ज्ञान को ही प्रामाण्य सिद्ध किया है। विवृति में कारिका का व्याख्यान करके आलोक को भी ज्ञान का कारण मानने का खण्डन किया है। न्या० कु० में का० ५५ से ५५ तक व्याख्यानमात्र किया है।

का० ५६—में कहा है कि अन्धकार का तो प्रत्यक्ष होता है किन्तु अन्धकार से आवृत वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता। विवृति में कारिका के मन्त्रव्य को समझाते हुए सिद्ध किया है कि ज्ञान का रोधक ज्ञानावरणीय कर्म है, अन्धकारादि नहीं। न्या० कु० में, ज्ञान की अनुत्पत्तिमात्र ही तम है' इस मत की आलोचना करके तम और छाया को द्रव्य सिद्ध किया है।

का० ५७—में कहा है कि जैसे मल से आच्छादित मणि की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से देखी जाती है उसी तरह कर्मों से आवृत आत्मा के ज्ञान का विकास भी हीनाधिकरूप से अनेक प्रकार का देखा जाता है। विवृति में बतलाया है कि अपने २ योग्य ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयों पश्चम के अनुसार मन और इन्द्रियाँ ही ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, अर्थ और आलोक नहीं।

का० ५८—में बौद्धों का निराकरण करते हुए कहा है कि तदुत्पत्ति, तादृप्य और तदध्यवसाय न तो पृथक् २ ही ज्ञान के प्रामाण्य में कारण हैं और न मिलकर ही। विवृति में तदुत्पत्ति, तादृप्य और तदध्यवसाय का निराकरण किया है।

का० ५९—में उक्त चर्चा का उपरंगाहर करते हुए कहा है कि जैसे अपने कारणों से उत्पन्न होने पर भी अर्थ ज्ञान का विषय होता है उसी प्रकार अपने कारणों से उत्पन्न होने पर भी ज्ञान अर्थ को जानता है। विवृति में निष्कर्ष निकालते हुए कहा है कि अर्थ और ज्ञान में तदुत्पत्ति-सम्बन्ध न होने पर भी स्वाभाविक प्राप्ति प्राप्ति सम्बन्ध है।

का० ६०—में कहा है कि ज्ञान स्व और पर का निर्णयक है अतः उसे ही मुख्य प्रमाण मानना चाहिए। विवृति में कहा है कि निश्चयात्मकता के बिना ज्ञान में अविसंबादकता नहीं आ सकती। आगे निर्विकल्पक ज्ञान से सविकल्पक की उत्पत्ति माननेवाले बौद्धों को लक्ष्य करके लिखा है कि जो स्वयं निर्विकल्पक है वह सविकल्पक को उत्पन्न नहीं कर सकता।

का० ६१—में और उसकी विवृति में प्रमाण के भेद-प्रभेदों की चर्चा प्रतिज्ञानुसार की गई है। प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और अतीनिन्द्रिय। इन्द्रियप्रत्यक्ष के चार भेद हैं—अवप्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भी चार भेद हैं—स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिवोध। श्रुतज्ञान परोक्ष है और उसमें अर्थापत्ति, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव होता है।

का० ६२—में श्रुतप्रमाण के दो उपयोग बतलाये हैं। उनमें से एक का नाम स्याद्वाद है और दूसरे का नाम नय है। संपूर्ण वस्तु के कथन को स्याद्वाद कहते हैं और उसके एक-देश के कथन को नय कहते हैं। विवृति में स्याद्वाद और नय का निरूपण विस्तार से किया है। और बतलाया है कि 'स्यात् जीव एव' यह प्रमाणवाक्य है और 'स्यादस्त्वेव जीवः' यह नयवाक्य है। न्या० कु० में का० ५७ से ६२ तक व्याख्यानमात्र है।

का० ६३—में कहा है कि प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' शब्द और 'एव' शब्द का प्रयोग आवश्यक है। यदि किसी वाक्य के साथ उनका प्रयोग न किया गया हो तो भी अर्थवशात्

उनकी प्रतीति हो जाती है। विवृति में स्यात्कार और एवकार के प्रयोग की आवश्यकता प्रदर्शित की है। न्या० कु० में विरोधियों का निरसन करके 'स्यात्' पद की सार्थकता सिद्ध की है।

का० ६४ और ६५—में लिखा है कि वर्ण, पद और वाक्य कभी २ अवाञ्छित अर्थ को भी कह देते हैं और कभी २ वाञ्छित को भी नहीं कहते। किर भी बौद्धों का यह कहना कि 'शब्द वक्ता के अभिप्रायमात्र का सूचक है', लोकप्रतीति का उल्लंघन करके बोलनेवाले बौद्धों को ही शोभा देता है। विवृति में कारिका का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मनुष्य नहीं चाहता कि उसके मुख से अपशब्द निकलें, फिर भी वे निकल जाते हैं और मनवद्विद्धि मनुष्य चाहता है कि मैं शास्त्रों का व्याख्यान करूँ किन्तु नहीं कर पाता। अतः शब्द वक्ता के अभिप्राय मात्र के सूचक न होकर उससे विभिन्न अर्थ के वाचक होते हैं। न्या० कु० में मीमांसकों के शब्दनित्यत्वाद और वेदापौरुषेयत्वाद की तथा वैयाकरणों के स्फोटवाद की विस्तार से आलोचना की है। इसके पश्चात् संस्कृत और प्राकृत भाषा के शब्दों के साधुत्व और असाधुत्व की आलोचना करके कहा है कि शब्दों की प्रमाणता या अप्रमाणता में संस्कृतव और असंस्कृतव कारण नहीं है। जो शब्द सत्य अर्थ का प्रतिपादन करता है वह साधु है, जो नहीं करता वह असाधु है। जैसे संस्कृत शब्द संस्कृत के व्याकरण से सिद्ध होते हैं उसी प्रकार प्राकृत-शब्द प्राकृतव्याकरण से सिद्ध होते हैं आदि। तथा 'प्रकृतेर्भवं प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति का निरसन करके 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति को अपनाया है। ब्राह्मणत्व जाति का भी खण्डन किया है।

का० ६६-६७ में कहा है कि श्रुतप्रमाण के नैगम आदि सात भेद हैं, जो नय कहते हैं। विवृति में कारिकाओं का विस्तृत व्याख्यान करते हुए सब से प्रथम यह सिद्ध किया है कि श्रुत के सिवाय अन्य ज्ञानों के भेद नय नहीं हो सकते। उसके बाद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक को मूल नय बतलाकर द्रव्य और पर्याय की विस्तृत चर्चा की है। निश्चय और व्यवहार का भी निरूपण किया है।

का० ६८—में नैगमनय और तदाभास की चर्चा करके, विवृति में लिखा है कि नैगमनय में गुण और गुणी दोनों की व्यासांभव विवक्षा होती है किन्तु संग्रह में केवल एक की ही विवक्षा होती है। यही दोनों में अन्तर है।

का० ६९—और उसकी विवृति में संप्रहनय और तदाभास की चर्चा है।

का० ७०—और उसकी विवृति में व्यवहारनय और तदाभास का निरूपण किया है तथा अन्त में शून्याद्वैत आदि को नयाभास बतलाया हैं क्योंकि वे व्यवहार के घातक हैं।

का० ७१—में ऋजुसूत्र और तदाभास का निरूपण है। विवृति में बौद्धों की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रतिभासभेद से स्वभावभेद की व्यवस्थापना करनेवाले बौद्धों की प्रतिभास के अभेद से अभेद को भी मानता ही होगा।

का० ७२—में नैगमादि चार नयों को अर्थनय और शब्दादि तीन नयों को शब्दनय बतलाया है। विवृति में शब्दनयों का व्याख्यान करके व्याकरणशास्त्र को सच्चा बतलाया है। न्या० कु० में का० ६६ से ७२ तक का व्याख्यानमात्र किया है।

### सम्पूर्णपरिच्छेद

का० ७३-७६—में लिखा है कि प्रमाण, नय, निकैप और अनुयोगों के द्वारा पदार्थों की जानकर तथा जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणास्थान के द्वारा जीवद्रव्य को विशेषतया

जानकर यह आत्मा अपने सम्बद्धर्शन को विशुद्ध करता है और तपस्या के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके मुक्तिसुख का अनुभवन करता है। विवृति में लिखा है कि श्रुतप्रमाण और उसके भेद नयों के द्वारा जाने गये द्रव्य और पर्यायों का सङ्करव्यतिकरणहित कथन करने को निचेप कहते हैं। उसके चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जाति, द्रव्य, गुण, और किया की अपेक्षा न करके जो नामव्यवहार किया जाता है उसे नामनिचेप कहते हैं। किसी वस्तु में नामनिर्वैशार्यपूर्वक दूसरे की स्थापना करने को स्थापननिचेप कहते हैं। भावित पर्याय की प्राप्ति के लिये अभियुक्त वस्तु को द्रव्य कहते हैं। वह दो प्रकार का है—आगम और नोआगम। वर्तमानपर्यायविशिष्ट वस्तु को भावनिचेप कहते हैं। निचेप से अप्रस्तुत का निराकरण और प्रस्तुत का प्रस्तुप किया जाता है, अतः निचेप उपयोगी है। अन्त में वैशेषिक सौनात और सांख्य के द्वारा माने गये मुक्तात्माओं के स्वरूप को दृष्टि में रखकर लिखा है कि मुक्तावस्था में न तो आत्मा के विशेषगुणों का उच्छ्रेद ही होता है, न गुण और गुणी की सन्वान का नाश ही होता है और न भोग्य के न होने के कारण आत्मा सर्वथा अभेक्ता ही होता है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए, आवरण का अस्तित्व तथा स्वरूप बतलाकर उसकी निर्जरा प्रमाणित की है। तथा सांख्य, वैशेषिक, वेदान्ती और बौद्धों के मोक्ष के स्वरूप की आलोचना करके मोक्ष का स्वरूप स्थिर किया है। अन्त में श्रेताम्बरों की केवलिमुक्ति और छीमुक्तिविषयक मान्यता का खण्डन किया है।

का० ७७—में शास्त्राभ्ययन का फल 'जिन' पद की प्राप्ति बतलाया है।

का० ७८—में उसी बात को प्रकारान्तर से कहकर शुभ कामना की है। न्या० कु० में दोनों पद्यों का व्याख्यान किया है।

इस प्रकार इस संस्करण में मुद्रित ग्रन्थों का संक्षिप्त विषयपरिचय जानना चाहिए।

### लघीयस्थय के दर्शनिक मन्तव्य

लघीयस्थय के विषयपरिचय को पढ़ने पर पाठकों को उसके दर्शनिक मन्तव्यों का आभास हो जाता है। लघीयस्थय में मुख्यतया तीन ही विषयों का विवेचन किया है—प्रमाण, नय और निचेप। उनमें से भी निचेप का तो केवल निर्वेश कर दिया है। भट्टाकलंकविषयक प्रबन्ध के 'अकलंक के वषड्ले जैनन्याय की रूपरेखा' और 'अकलंक की जैनन्याय को देन' शीर्षकों से प्रमाण की जैनसम्मत रूपरेखा पर प्रकाश पड़ सकेगा। यहाँ हम प्रमाणप्रेषण और नयप्रवेश में वर्णित विषयों की प्रवचनप्रवेश में द्विरुक्ति किये जाने के सम्बन्ध में कुछ कहेंगे।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। उसका मत है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर में विरोधी कहे जाने वाले नियत, अनियत, एकत्व, अनेकत्व, अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनन्त घर्मों का समूह है, और वह प्रमाण का विषय है। जैनसिद्धान्त में ज्ञान के उत्पादक कारणों को प्रमाण न मान-कर ज्ञान को ही प्रमाण माना है। प्रमाण के दो रूप हैं—स्वार्थ और परार्थ। ज्ञान के द्वारा वस्तु की साक्षात् ज्ञानि तो ज्ञाता को ही होती है। एक ज्ञाता के ज्ञान का साक्षात् उपयोग दूसरा ज्ञाता नहीं कर सकता, अतः उसके लिये शब्द का सहारा लेना पड़ता है। ज्ञान के द्वारा ज्ञाता जानता है और शब्द के द्वारा उसे दूसरों पर प्रकट करता है। इसी लिये ज्ञान को स्वाधिगम का हेतु और वचन को पराधिगम का हेतु कहा जाता है। किन्तु अधिगम का

कारण होने पर भी दोनों में एक मौलिक अन्तर है, ज्ञान अनेक वस्तुओं को या एक वस्तु के अनेक धर्मों को युगपत् जान सकता है किन्तु शब्द में यह शक्ति नहीं है कि वह उन्हें एकसाथ कह सके, वह तो एक समय में एक वस्तु या उसके एक धर्म को ही कह सकता है। अतः एक वस्तु के प्रतिपादक वक्ता के ज्ञान को श्रुत और उसके एक धर्म के प्रतिपादक वक्ता के ज्ञान को नय कहते हैं। भारतीय दर्शनिकों ने प्रमाणशास्त्र और शब्दशास्त्र के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है और शब्द से अर्थ का बोध किस प्रकार होता है इस पर भी पर्याप्त प्रकाश ढाला है। किन्तु वस्तु और वस्तुवश के बाच्य-चाचक के भेद का विवेचन उन्होंने नहीं किया, इसी से प्रमाण के भेद नय का उल्लेख जैनदर्शन के सिवाय इतर दर्शनों में नहीं पाया जाता है और उसका कारण उनका एकान्तवादी होना है। किन्तु अनेकान्तवादी होने के कारण जैनदर्शन ने शब्द की प्रतिपादकत्वशक्ति पर भी विचार किया और उसकी असामर्थ्य का अनुभवन करके 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त का आविष्कार किया। उसने देखा कि वस्तु के अनन्तधर्म होने पर भी वक्ता अपने अपने दृष्टिकोण से उसका विवेचन करते हैं। द्रव्यहृष्टिवादा उसे नित्य कहता है, पर्यायहृष्टिवाला उसे अनित्य कहता है, अतः इन विभिन्न दृष्टियों का समन्वय होना आवश्यक है। इसके लिये जैनसिद्धान्त में नय का आविर्भाव हुआ, जो ज्ञाता के अभिप्राय को बतलाता है। इस प्रकार जैनशासन की मूलहृष्टि अनेकान्तवाद में से दो सिद्धान्तों का उद्गम हुआ। स्याद्वाद वस्तु को अनेकधर्मसमक बतलाता है, नयवाद उसके किसी एक धर्म का कथन करनेवाले के दृष्टिकोण को बतलाता है। लवीयख्य के प्रमाणप्रवेश में प्रमाण का और नयप्रवेश में नय का कथन करने पर भी दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण नहीं किया है। इसलिए प्रवचनप्रवेश में प्रमाण के भेदों को गिनाकर श्रुतप्रमाण के दो उपयोग बतलाये हैं—स्याद्वाद और नय, तथा यह भी बतलाया है कि नय श्रुतप्रमाण के ही भेद हैं। अतः प्रवचनप्रवेश की रचना में अकलंकदेव की बही दृष्टि नहीं है जो पहले के दो प्रवेशों में है। द्विरुक्ति होने पर भी उसमें मौलिकता है और वह मौलिकता जैनन्याय से ही सम्बन्ध रखती है।

#### श्रुत के दो उपयोग

शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के आधीन है। अतः वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यता से वचनप्रयोग करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वस्तु सर्वथा उस एक धर्मस्वरूप ही है। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि वहाँ पर विवक्षित धर्म की मुख्यता और शेष धर्मों की गोणता है। इसी लिये गोणधर्मों का दोतक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ गुप्तरूप से सम्बद्ध रहता है। भगवान् महावीर ने अपने अनुपम वचनों के द्वारा पूर्ण सत्य का उपदेश किया और उनका उपदेश संसार में 'श्रुत' के नाम से ख्यात हुआ। भगवान् महावीर के उपदेश का प्रत्येक वाक्य 'स्यात्' 'कथेचित्' या किसी अपेक्षा से होता था, क्योंकि उसके बिना पूर्ण वस्तु का कथन नहीं हो सकता अतः उनके उपदेश 'श्रुत' को आचार्य समन्तभद्र ने 'स्याद्वाद' के नाम से सम्बोधित किया है। उन्हीं का अनुसरण करते हुए अकलंकदेव ने श्रुत के दो उपयोग बतलाये हैं—एक स्याद्वादश्रुत और दूसरा नयश्रुत। एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मसमक वस्तु का बोध करनेवाले वाक्य को स्याद्वाद श्रुत कहते हैं। यह वाक्य पूर्ण वस्तु का बोध करता है, अतः उसे सकलादेश भी कहते हैं। और अनेक धर्म-

स्मक वस्तु का ज्ञाता ही ऐसे वाक्य का प्रयोग कर सकता है। अतः उसे प्रमाणवाक्य भी कहते हैं। तथा, अनेकधर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का बोध करानेवाले वाक्य को नयश्रुत कहते हैं, इसे विकलादेश भी कहते हैं। इस प्रकार श्रुत के दो उपयोग बतलाकर अकलंकदेव ने विवृति में दोनों के प्रयोग में कुछ अन्तर बतलाया है। वे लिखते हैं कि 'स्यात् जीव एव' यह प्रमाण वाक्य या सकलादेश है और 'स्यादस्त्वेव जीवः' यह नयवाक्य या विकलादेश है। इससे यह आशय निकलता है कि धर्मिवाचक शब्दों के साथ स्यात् और एवकार का यदि प्रयोग किया जाता है तो वह सकलादेश है और यदि धर्मवाचक शब्दों के साथ उक्त दोनों पदों का प्रयोग किया जाता है तो वह विकलादेश है। किन्तु अपने राजवैतिक में अकलंकदेव ने दोनों प्रकार के वाक्यों का एक ही उदाहरण 'स्यादस्त्वेव जीवः' दिया है और उसके उभयरूप होने में युक्तियाँ भी दी हैं। जहाँ तक हम जानते हैं लघीयस्थय में प्रदर्शित मन्तव्य का अनुसरण उत्तरकालीन किसी भी आचार्य ने नहीं किया। प्रायः सभी ने दोनों प्रकार के वाक्यों का एक ही उदाहरण दिया है और प्रयोक्ता के दृष्टिकोण में अन्तर बतलाकर उसे ही प्रमाणवाक्य और उसे ही नयवाक्य बतलाया है। आचार्य विद्योननद ने तो स्पष्ट लिखा है कि समस्त शब्द किसी न किसी धर्म की अपेक्षा से ही व्यवहृत होते हैं। जैसे, जीव शब्द जीवनगुण की अपेक्षा से ही व्यवहृत होता है। इस प्रकार लघीयस्थय में प्रतिपादित उक्त मन्तव्य का प्रसार उत्तर काल में नहीं हो सका। इसी प्रकार प्रमाणों की परम्परा के सम्बन्ध में भी लघीयस्थय में एक नवीनता पाई जाती है। उसमें स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष में अन्तर्भूत किया है, किन्तु उत्तरकालीन आचार्यों ने इसे भी नहीं अपनाया और वे परोक्ष में ही अन्तर्भूत किये गये। इसका विशेष विवेचन आगे किया जायेगा। यहाँ तो केवल इतना ही बतलाना है कि लघीयस्थय के उक्त दो मन्तव्यों का अनुसरण नहीं किया गया, किन्तु शेष को सभी ने एक स्वर से अपनाया है।

### श्रीमद्द्वाकलङ्क

#### प्राक्थन

लघीयस्थय और उसकी विवृति के रचयिता श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव का स्थान जैनवाङ्मय में अनुपमेश है। यथापि उनकी सभी कृतियाँ अतिगहन और प्रखर दार्शनिकों के लिये भी दुरुह हैं, उनमें से एक भी कृति ऐसी नहीं है जो स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डग्रावकाचार और उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र की तरह जनसाधारण में प्रचलित हो, किन्तु जैनसमाज में ऐसे विरले ही मनुष्य होंगे जो उनके नामसे परिचित न हों और अकलङ्क नाम को मुनकर जिनके मस्तक श्रद्धा से न न हो जाते हों। दिग्म्बर सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी जैनों के दोनों सम्प्रदायों के महान् पन्थकारों ने आदर के साथ उनका समरण किया है और जैनन्याय में उनके द्वारा समाविष्ट किये गये मन्तव्यों को किसी भेदभाव के बिना ज्यों का त्यों अपनाया है। इन्हें 'जैनवाय के सर्जक' कहे जाने का सौभाग्य प्राप्त है और उनके नाम के आधार पर जैनन्याय को श्लेषात्मक 'अकलङ्कन्याय' शब्द से कहा है जो वीतराग जिन और उनके

अनुयायी भट्टाकलंक, दोनों का बोधक है। रवामी समन्वयभद्र और सिद्धसेन के पश्चात् इसी प्रखर तार्किक ने अपनी प्रभावक कृतियों से जैनवाङ्गम के कोष को समृद्ध बनाया था। वे भारतीय साहित्यगणन में चमकनेवाले उन इने गिने नक्षत्रों में से थे जिनकी आलोकछटा से भारत-माता का भस्तक आज भी आलोकित है।

वे सब कुछ थे किन्तु उनकी जीवनगाथा गाने के लिये आज हमारे पास कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह 'न कुछ' के बराबर है। उनकी अमरकृतियाँ अपनी गोद में उनका अमर नाम लिये जीवित हैं, वे अपने कर्ता के बारे में जो कुछ बतला सकती हैं वह है उसका नाम, व्यक्तित्व और प्रकाण्ड पाण्डित्य। उनमें से एक आध कुछ अधिक बतलाने का साहस भी करती है तो उसका पता लगाने की सामग्री हमारे पास नहीं है। शिलोलेख और प्रथकार भी उनकी गुणगिरिमा का गान करके ही रह जाते हैं। उन के पितृकुल गुरुकुल जन्मदेश और कार्यचेत्र के सम्बन्ध में वे मूक हैं। शेष रह जाती हैं कथाकारों की श्रद्धाञ्जलियाँ, किन्तु शताव्दियों का अन्तराल, कथाकारों की कल्पना, अन्य स्थलों से उनका समर्थन न होना आदि अनेक बातें एक इतिहासज्ञ को उनकी सत्यता में विश्वास न करने के लिये प्रेरित करती हैं। इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक आचार्य हो गये हैं। इन सब उलझनों के मध्य में से प्रकृत समस्या को सुलझाना और ऐतिहासिक तथ्य तक पहुँच जाना कितना दुष्कर है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। तथापि प्रयत्न करना मनुष्य का कर्तव्य है यह विचार कर हम इस कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

### अकलंक नाम के अन्य विद्वान्

नामसाम्य होने के कारण बहुत से महानुभाव समाननामा विभिन्न प्रन्थकारों की कृतियों को एक ही की कृति समझ बैठते हैं। तथा कुछ ग्रन्थकार भी अपने नाम का लाभ उठाकर अपने नामराशि किसी प्रसिद्ध विद्वान् के नाम पर अपने ग्रन्थों का नाम रखकर बैसा करने का प्रयत्न करते हैं, अतः प्रसिद्ध पुरुष की ख्याति को पुरुषित रखने के लिये यह आवश्यक है कि पाठक उस नाम के अन्य विद्वानों से भी परिचित हों। हमारे चरितनायक अकलंकदेव के पश्चात् अकलंक नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं और उनमें से कुछ ने कुछ रचनाएँ भी की हैं। अब तक ऐसे जितने अकलंकों का पता लग सका है उनकी तालिका नीचे दी जाती है।

१ अकलंक त्रिविद्या—इनके गुरु देवकरीति थे। समय, विक्रम की १२ वीं शताब्दी। इनका उल्लेख श्रवणवेल० शिला० ३० में मिलता है।

२ अकलंक पण्डित—श्रवण० शिं० नं० ४३ में इनका उल्लेख है। यह शिलालेख ई० ११०० के लगभग का समझा जाता है।

३ अकलंक भट्टारक—यह जाति के पोरवाड़ थे। ये अकलंकसंहिता और श्रावकप्राय-वित्त (ई० १३११ में रचित) के कर्ता थे।

४ अकलंक—परमागमसार के रचयिता।

५ अकलंक—विवेकमञ्जरीवृत्ति (ई० ११९२) के रचयिता।

६ भट्ट अकलंक—विद्यानुवाद नामक मन्त्रशास्त्र के रचयिता।

१ पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा प्रेषित तालिका तथा मद्रास विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित 'नवीन सूचीपत्रों का सूचीपन्न' के आधार पर यह तालिका दी गई है।

७ अकलंकदेव—ई० १६०४ में इन्होंने कर्णटक शब्दानुशासन की रचना की थी। ये दृष्टिष्ठान कनाड़ा के हाथुवल्ली मठ के जैनाचार्य के शिष्य थे।

८ अकलंक कवि—त्रितफलबर्णन के कर्ता।

९ अकलंकदेव—चैत्यवन्दनादिसूत्र, साहुआद्वप्रतिक्रमण, पदपर्यायमञ्जरी के रचयिता।

१० अकलंक—विद्याविनोद के कर्ता, इन्होंने अकलंक भट्टारक, वीरसेन, पूज्यपाद और धर्मकीर्ति महामुनि का उल्लेख किया है।

११ अकलंक-अकलंकप्रतिष्ठापाठ के रचयिता, यह ग्रन्थ १६ वीं अथवा १७ वीं शताब्दी का बना है। संभव है इनमें से कोई कोई अकलंक एक ही व्यक्ति हों, किन्तु वर्तमान परिदिशिति में हम उनका ऐस्य प्रमाणित कर सकते में असमर्थ हैं। प्रसिद्ध आद्य अकलंक को कुछ ग्रन्थकारों ने केवल 'देव' शब्द से स्मरण किया है, जैसा कि आगे माल्स होगा। तथा 'भट्ट' संभवतः उनकी उपाधि थी, जो उस समय के प्रकााड विद्वानों के नाम के साथ प्रयुक्त की जाती थी, जैसे भट्ट कुमारिल, भट्ट प्रभाकर आदि।

### जन्मभूमि और पितृकुल

प्रभाचन्द्र के गवा कथाकोश ब्रह्मचारी नेमिदत्त के कथाकोश और कनड़ी भाषा के 'राजा-वल्लीकथे' नामक ग्रन्थ में अकलंक की जीवनकथा मिलती है।

कथाकोश के अनुसार अकलंक की जन्मभूमि मान्यखेट थी और वहाँ के राजा शुभतुंग के भंत्री पुरुषोत्तम के बे पुत्र थे। किन्तु राजावलीकथे के अनुसार वे काच्ची के जिनदास नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। अकलंक के तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के अन्त में एक श्लोक पाया जाता है। उसमें उन्हें लघुहन्त्र नृपति का पुत्र बतलाया है।

वह श्लोक निम्न प्रकार है

जीवाच्चिरमकलङ्कवसा लघुहन्त्रपतिवरतनयः ।

अनवरतनिसिलजननुताविद्यः प्रशस्तजनहृदयः ॥

यह श्लोक स्वयं ग्रन्थकार का बनाया हुआ तो नहीं जान पड़ता। यद्यपि इसकी शब्द-रचना राजवार्तिक की शब्दरचना से मेल खाती है और उसमें अकलङ्क के कवित्व की छाया भी दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उनके अन्य किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार का उल्लेख नहीं पाया जाता, तथा उक्त श्लोक ग्रन्थ के अन्त में न होकर उसके प्रथम परिच्छेद के अन्त में है, जब कि अन्य किसी भी परिच्छेद के अन्त में कोई श्लोक नहीं है। अतः श्लोक की स्थिति

१ दोनों कथाकोशों की कथाओं में कोई अन्तर नहीं है (देखो समन्वयपृ० १०५ का नोट) नेमिदत्त ने प्रभाचन्द्र के गवा कथाकोश को ही पय में परिवर्तित किया है। जैसा कि वह स्वयं लिखते हैं—

देवेन्द्रचन्द्रार्कसमर्चितेन तेन प्रभाचन्द्रसुनीश्वरेण ।

अनुग्रहार्थं रचितं सुवाक्यराधनासारकथाप्रबन्धः ॥ ६ ॥

तेन क्रमेणैव मया स्वशक्त्या श्लोकैः प्रसिद्धैऽव निरगतो सः ।

मार्गेण कि भानुकरप्रकाशोऽस्वलीकाया गच्छति सर्वलोकः ॥ ७ ॥

नेमिदत्तकृत कथाकोश

उसकी वास्तविकता के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न करती है। तथापि कथाओं के साथ उसकी वास्तविकता की तुलना करने पर कथाओं की अपेक्षा उसे अग्रस्थान देना ही होगा।

अकलङ्क दक्षिणभारत के निवासी थे इसमें तो कोई सन्देह नहीं। कथाओं में दिये गये नगरों के नामों से भी इसका समर्थन होता है। लघुहब्व नाम दक्षिण भारत के अनुरूप है क्योंकि वहाँ इस प्रकार के नाम पाये जाते हैं यथा—चिक्क, नन्न आदि। किन्तु पुरुषोत्तम नाम उत्तरभारत की शैली को सूचित करता है। राजवलीकथे का जिनदास नाम ब्राह्मण का जैनत्व सिद्ध करने के लिये कल्पित किया गया प्रतीत होता है। और उसकी खी का जिनमती नाम उसकी काल्पनिकता का रहस्य प्रकट कर देता है। अतः अकलङ्क न तो पुरुषोत्तम मंत्री के पुत्र थे और न जिनदास ब्राह्मण के, किन्तु वे राजपुत्र थे और उनके पिता का नाम लघुहब्व था।

कथाकोश का मान्यखेट नगर एक समय राष्ट्रकूटवंशी राजाओं की राजधानी था और राष्ट्रकूटवंशी राजाओं में से कृष्णराज प्रथम शुभतुंग नाम से प्रसिद्ध था तथा उसके भर्तीजे दन्तिदुर्ग का अपरनाम साहसतुङ्ग था। मलिलेषणप्रशस्ति के एक श्लोक से प्रकट है कि अकलङ्क साहसतुङ्ग की सभा में गये थे। संभवतः इसी आधार पर कथाकोश के कर्ता ने उन्हें मान्यखेट का अधिवासी मान लिया है। किन्तु उस समय के इतिहास में मान्यखेट का कोई पता नहीं चलता। दन्तिदुर्ग के वंशज महाराज अमोघवर्ष ने शक सं ७३७ (सन् ८१५) में अपनी राजधानी मान्यखेट में प्रतिष्ठित की थी। इसी समय से यह नगर इतिहास में प्रसिद्ध हुआ है। अतः कथाकोश का उल्लेख किसी भी तरह उचित प्रतीत नहीं होता।

राजावलिकथे का काञ्ची नामक नगर इतिहास में प्रसिद्ध है। यह द्रविणदेश की राजधानी था। प्राचीन काल से यह विद्या का केन्द्र रहा है। इसे दक्षिणभारत की काशी कहा जाता है। एक समय स्वामी समन्तभद्र ने यहाँ अपनी विजयदुन्तुभि बजाई थी। पल्लववंश के समय में यहाँ बौद्धधर्म का प्रचार बड़े जोरों पर था, क्योंकि पल्लवराजा बौद्धधर्म के अनुयायी थे। बौद्धमत के प्रख्यात नैयायिक डिङ्गनाग और धर्मकीर्ति काञ्ची के आसपास के ही निवासी थे और उन्होंने वहाँ पर बौद्धदर्शन का अध्ययन किया था। इन सब बातों पर दृष्टि डालते हुए हमारा अनुमान है कि अकलंक के पिता लघुहब्व द्रविणदेश के ही किसी ताल्लुके के स्वामी होंगे और अकलंक का जन्म काञ्ची के निकट किसी ऐसे प्रदेश में हुआ होगा जहाँ पल्लवराज तथा उनके धर्मनुयायियों के आतंक की चर्चा और प्रभाव हो। क्योंकि इस प्रकार के वातावरण में उत्पन्न होने से ही अकलङ्क के जीवन में वे सब बातें घट सकती हैं जिनका समर्थन न कैवल कथाओं से किन्तु शिलालेखों और प्रथारारों की श्रद्धालुओं से भी होता है।

### बाल्यकाल और शिक्षा

जैनराजाओं या दानियों ने जैनधर्म की शिक्षा देने के लिये बौद्धों की तरह स्थान स्थान पर विद्यापीठ की स्थापना की हो, इतिहास में इस प्रकार का कोई सङ्केत नहीं मिलता। जैनों के आचार्य संसार से विरक्त साधु होते थे। वे ज्ञान और चारित्र के भण्डार होते थे। प्रायः नगरों के आसपास जंगलों में वे निवास करते थे। वे जैनों के धर्मगुरु होने के साथ ही साथ

<sup>१</sup> देखो, 'महाकवि पुष्पदन्त के समय पर विचार' शीर्षक में० हीरालाल का लेख। <sup>२०</sup> सा० संशो०, खंड २, अङ्क ३, पृ० १४७।

विद्यागुरु भी होते थे। जो विद्याप्रेमी भाई अपनी सन्तान को शिष्टित बनाने का इच्छुक होता था वह अपनी सन्तान को इन बनवासी गुरुओं के सुपुर्दि कर देता था। तपस्ती गुरुओं का सहवास और बन का प्रशान्त बातावरण उनमें से अनेक छात्रों को त्यागमार्ग का अनुगामी बना देता था और वयस्क होने पर यदि वे योग्य प्रमाणित हुए तो दीक्षा लेकर गुरु के पट्ट को मुशोभित करते थे। जैनवाङ्मय के भण्डार को अपनी अमूल्य कृतियों से समृद्ध करनेवाले सभी शास्त्रकार ग्रायः संन्यास-न्यथ के पथिक थे और उनके गुरु भी उसी सार्व के नेता थे।

अकलङ्क की धर्मीकिशिक्षा भी इसी परिपाठी के अनुसार हुई प्रतीत होती है। कथाकोश में लिखा है “एक बार अष्टाहिका पर्व के अवसर पर अकलङ्क के माता पिता उन्हें जैन मुनिराज के निकट ले गये। साथ में उनके लतुत्राता निकलङ्क भी थे। धर्मोपदेश श्रवण करने के बाद पति-पत्नी ने आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्यब्रत यहग किया और कौतुकवश पुत्रों को भी ब्रह्मचर्यब्रत दिला दिया। जब दोनों भाईयों ने मुनिराज के सन्तुष्ट दिलाई गई प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर विवाह करने से साफ इन्कार कर दिया। पिता ने बहुतेरा समझाया कि वह प्रतिज्ञा तो केवल आठ दिन के लिये दिलाई गई थी, किन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि प्रतिज्ञा दिलाए समय हमसे समय की मरीदा की कोई चर्चा नहीं की गई थी। सारांश यह है कि उन्होंने विवाह नहीं किया और घर बार का कामकाज छोड़कर विद्याभ्यास में चित्त लगाया।”

राजावलीकथे तथा दूसरी कई कथाओं के आधार से, जिनसे हम अपरिचित हैं, राइस साठ ने अकलंकदेव का जीवनवृत्तान्त लिखा है। वे लिखते हैं—“जिस समय काजी में बौद्धों ने जिनमध्य की प्रगति को रोक दिया था उस समय जिनदास नामक जैन ब्राह्मण के यहाँ उसकी लौ जिनमधी से अकलङ्क और निकलङ्क नाम के दो युत्र थे। वहाँ पर उनके सम्बद्धाय का कोई पढ़ानेवाला नहीं था इसलिये इन दोनों बालकों ने ऊपरीति से भगवदास नाम के बौद्ध-गुरु से—जिसके मठ में पौँच सौ शिष्य थे—पढ़ना शुरू किया।”

अकलंक के ‘जन्मस्थान और पितृकुल’ को बतलाते हुए हम इन कथाओं की यथार्थता के सम्बन्ध में झ़हापेह कर आये हैं और आगे भी करेंगे। किन्तु कथाकोशकार ने अकलङ्क के बाल्यजीवन की घटनाका जो चित्रण किया है अर्थात् पिता के साथ मुनिराज के पास जाना, वहाँ ब्रह्मचर्यब्रत धारण करना और विवाह का प्रसङ्ग पृथिवीत होने पर बाल्यकाल में लिये गये ब्रत का स्मरण दिलाकर आजनम ब्रह्मचारी रहने का संकल्प प्रकट करना तथा विद्याभ्यास में चित्त लगाना, वह सब इतना स्वाभाविक और सत्य प्रतीत होता है कि अकलंक के जीवन के साथ उसका सम्बन्ध अस्तीकार करने पर भी कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि अकलंकसदृश दृढ़ अध्यवसायी, प्रकाण्डपण्डित और कर्मठ व्यक्ति के जीवन में इस प्रकार की घटना नहीं घट सकती। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो व्यक्ति महापुरुष हुए उनके जीवन में कोई न कोई ऐसी घटना अवश्य घटी जिसने उन्हें महापुरुष के पद पर पहुँचा दिया। जैन श्रावक, राजा हो या रंक, नगर के निकट मुनि के आने का समाचार सुनकर उनकी बनदाना किये बिना नहीं रह सकता। जैन कथानकों से स्पष्ट है कि नगर प्रान्त में किसी मुनि या संघ के पवारने का समाचार सुनकर श्रेणिक जैसे प्रभावशाली राजा न केवल स्वयं सपरिवार

मुनिवन्दना के लिये जाते थे किन्तु नगर में डुग्गी पीटकर इस सुसंवाद की वोषणा की जाती थी और सब नरनारी अपने अपने परिवार के साथ मुनिराज के पादमूल में धर्मोपदेश श्रवण करके यथाशक्ति ब्रत नियमादि श्रहण करते थे। अतः कथाकोश के पुरुषोत्तम मंत्री के स्थान में यदि लुप्त हव्व राजा अपने पुत्र अकलंक के साथ मुनि के पादमूल में गया हो और वहाँ अकलंक ने भी ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया हो तो कोई अचरज की बात नहीं है। प्रत्युत ऐसी घटना का न घटना ही अचरज की बात हो सकती है। क्योंकि राजपुत्र होकर विद्याभ्यासङ्ग में लगना और राजोचित भोगविलास को त्यागकर जगह जगह शास्त्रार्थ करते फिरना किसी प्रेरकसामग्री के बिना संभव नहीं है। कहा जा सकता है कि वौद्धधर्म के उत्कर्ष के कारण जैनधर्म के हास को देखकर उन्हें राजकाज छोड़कर इस मार्ग में प्रवृत्त होने की अन्तःप्रेरणा हुई थी। यह कहना हमारी कल्पना का फल होते हुए भी उतना ही सत्य है जितना अकलदृढ़देव का ऐतिहासिक व्यक्ति होना सत्य है। अन्तः प्रेरणा के बिना कोई भी व्यक्ति उस कठिन पथ का पथिक नहीं बन सकता, जिसे अकलदृढ़देव ने अपनाया था और न उसकी लेखनी में वह ओज ही आ सकता है जो अकलदृढ़ के साहित्य में हम पाते हैं। उनका साहित्य हमें बतलाता है कि जनता में फैलाये गये विपक्ष दुर्विचारों से वे किन्तु दुखी थे और इसे वे मृदू जनता का दुर्भाग्य समझते थे। अपने न्यायविनिश्चय नामक ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः

माहात्म्यात्मसः स्वयं कलिवलात् प्रायो गुणद्रेष्टिभिः ॥

न्यायोऽयं मालिनीकृतः कथमपि ग्रक्षात्य नेनीयते

सम्यग्ज्ञानजलैर्विचोभिरमलं तत्रानुकम्प्यापैः ॥

**अर्थात्**—“कल्याण के इच्छुक अज्ञजनों के पुरोपार्जित पाप के उदय से, गुणद्रेष्टी एकान्तवादियों ने न्यायशास्त्र को मालिन कर दिया है। करुणाद्विदि से प्रेरित होकर हम उस मालिन किये गये न्याय को निर्मल करते हैं।”

किन्तु इस अन्तः प्रेरणा को साहाय्य देने के लिये किसी बाह्य प्रेरक की भी आवश्यकता है। कथाकोश के अनुसार विवाह का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर अकलदृढ़ आजन्म ब्रह्मचारी रहने का निश्चय करके विद्याभ्यास में चित्त लगाते हैं और समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके वौद्धधर्म पढ़ने के लिये विदेश जाते हैं। और राजावलीकये के अनुसार काज्जी में किसी जैन पाठक के न होने के कारण वे बौद्धगुरु के मठ में पढ़ना प्रारम्भ करते हैं। राजावलीकये में मुनि के पास जाने आदि की कोई चर्चा नहीं है। और वहाँ उस सब की आवश्यकता भी प्रतोत नहीं होती। क्योंकि राजावलीकये के अकलदृढ़ ब्राह्मणपुत्र हैं और ब्राह्मणपुत्र का मुख्य कार्य अध्ययन-अध्यापन होता ही है। अतः वे काज्जी में जैनगुरु का प्रबन्ध न होने से बौद्धमठ में जा पहुँचते हैं। किन्तु राजपुत्र या मंत्रीपुत्र को अपना पैतृक व्यवसाय छोड़कर इस मार्ग में पैर रखने के लिये कोई बाह्य नियमित मिलना ही चाहिए।

हमारा अनुमान है कि अकलदृढ़देव की आरम्भिक शिक्षा भी उसे पद्धति के अनुसार हुई थी जिसका उल्लेख हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में कर आये हैं, और यदि कथाकोश में वर्णित मुनि के पास जाने आदि की बात सत्य है तो संभव है वे ही मुनि उनके प्रारम्भिक गुरु हों और

उन्होंने अपने सुयोग्य शिव्य में जिनशासन का अभ्युदय कर सकने की क्षमता देखकर उसे इस ओर प्रेरित किया हो। अस्तु, जो कुछ हो। अकलङ्क एक राजपुत्र होते हुए भी बहुत बड़े तार्किंग और वादी थे और उनका जीवन विद्याव्यासङ्क में वीता था अतः उनकी शिक्षादीक्षा ऐसे वातावरण में हुई होगी जिसने उन्हें क्षवियोचित शख्वीरता का मार्ग छुड़ाकर ब्राह्मणोचित शास्त्रवीरता के मार्ग का अनुगामी बनाया।

### विद्यार्थीजीवन और संकट

अकलङ्क की जिन कथाओं का उल्लेख हम पहले कर आये हैं उन सबमें थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अकलङ्क का अपने लघुत्राता निकलङ्क के साथ अपने को छिपाकर बौद्धमठ में विद्याध्ययन करना, बौद्धगुरु की पुस्तक में जैनसिद्धान्त के किसी रहस्य या वाक्य को लिख देना, बौद्धगुरु को किसी जैनकालात्रे के छिपकर विद्याध्ययन करने का संदेह होना, छात्र को खोज निकालने के लिये कई उपायों का प्रयोग करना, अकलङ्क और निकलङ्क का पकड़े जाना, आत्मरक्षा के लिये रात्रि के समय कारागार से निकलकर भागना, अकलङ्क का प्राण बचाना किन्तु निकलङ्क का बौद्धसैनिकों के द्वारा वध किया जाना आदि बातों का वर्णन मिलता है।

कथाकोश में लिखा है—“मान्यवेष्ट नगर में किसी बौद्धविद्वान् के न होने के कारण दोनों भाईयों ने बौद्धधर्म का अध्ययन करने के लिये विदेशयात्रा की और अज्ञ ज्ञात्र का रूप धरकर बौद्धाचार्य के पास अध्ययन करने लगे। जब गुरु अपने बौद्धशिष्यों को बौद्धशास्त्र पढ़ाते थे तो वे दोनों छिपकर सब सुनते रहते थे। एक दिन गुरुजी दिङ्गनाग के किसी प्रन्थ को पढ़ा रहे थे। दिङ्गनाग ने अनेकान्त का खण्डन करने के लिये पूर्वपक्ष में सप्तभंगी का निरूपण किया था। अशुद्ध होने के कारण बौद्धगुरु उसे समझ नहीं सके और पढ़ाना बन्द करके छोड़े गये। अकलङ्कदेव ने पाठ शुद्ध कर दिया। पुनः पुस्तक खोलने पर गुरु ने शुद्ध पाठ लिखा देखा और अनुमान किया कि उनके मठ में जैनशास्त्रों का ज्ञाता कोई जैन बौद्धसाधु का वेश बनाकर अध्ययन करता है। उन्होंने खोज करना प्रारम्भ किया। एक दिन उन्होंने एक जैनपर्ति मंगाकर सब शिष्यों को उसे लांचने की आज्ञा दी। अकलङ्क तुरन्त ताङ्ग गये और मूर्ति पर एक धागा ढालकर उसे तुरन्त उलंघ गये। इस उपाय में सफलता न मिलने पर आचार्य ने दूसरा उपाय खोज निकाला। एक दिन रात्रि के समय उन्होंने प्रत्येक छात्र की शिथ्या के पास एक एक मुरुध्य को खड़ा कर दिया और ऊपर से बर्तनों का एक बोरा जमीन पर जोर से पटक दिया। भयझर शब्द सुनकर सब छात्र जाग पड़े। पञ्चनमस्कारमंत्र का स्मरण करते हुए अकलङ्क निकलङ्क भी जागे और सभीमें खड़े मुरुध्यों के द्वारा पकड़ लिये गये।

दोनों भाई पकड़कर महल के सातवें खन पर रख दिये गये। अपने उद्देश्य को पूरा किये विना संसार से बिशा होने का समय निकट जान, छोटा भाई निकलङ्क बहुत हुआ किन्तु अकलङ्क ने प्राणरक्षा का एक उपाय खोज निकाला। एक छात्र की सहायता से, जो वहाँ पड़ा हुआ था, दोनों भाई महल से कूद पड़े और वहाँ से भाग दिये। आपीरात के समय मारने के लिये जब उनकी खोज की गई तो वे नहीं मिले। तब बहुत से सबार उनके पांछे दौड़ा दिये गये। निकलङ्क ने घोड़ों की टापों का शब्द सुनकर जान लिया कि उन्हें मारने के लिये चर आरहे हैं। उसने अपने भाई से कहा कि आप पष्ठित और चतुर व्यक्ति हैं, आपके जीवित रहने से जिनशासन का महान् उपकार होगा, अतः आप इस सभीपर्वती तालाब में

छिपकर अपने प्राण बचाओ। दूसरा उपाय न देखकर दुखी अकलंक तालाब में छिप गये और निकलंक भाग दिये। एक धोबी कपड़े धो रहा था। उसने निकलंक को भागता देखा और पीछे की ओर उड़ती हुई धूल भी देखी। डरकर वह भी भाग खड़ा हुआ। सवारों ने उनके निकट पहुँच कर दोनों के सिर धड़ से जुदा कर दिये। सवारों के लौट जाने पर अकलंक तालाब से निकले और एक ओर को चल दिये।

भगवद्गास के मठ में दोनों भाईयों के प्रविष्ट होने के बाद उक्त घटना के सम्बन्ध में राइस साठ लिखते हैं—

“एक कथाकार कहता है कि उन्होंने ऐसी असाधारण शीघ्रता के साथ उन्नति की कि गुरु को सन्देह हो गया और उसने यह जानने का निश्चय किया कि वे कौन हैं। अतः एक रात्रि को जब वे सोते थे उस बौद्धगुरु ने बुद्ध का दौत उनकी छाती पर रख दिया। इससे वे बालक जिनसिद्ध कहते हुए एक दम उठ खड़े हुए और इससे गुरु को मालूम हो गया कि वे जैन हैं। दूसरी कथा के आधार पर, उन बालकों ने एक दिन-जब कि गुरु कुछ मिनिट के लिये उनसे अलग हुआ था—एक हस्तलिखित पुस्तक में ‘सम्यग्दर्शनद्वानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ लिख दिया और इस बात की छानवीन करने पर गुरु को मालूम हो गया कि वे जैन हैं। दोनों कथाओं में चाहे जो सची हो आखिर नतीजा यह निकला कि उनके मारने का निश्चय किया गया और वे दोनों भाग निकले। निकलंक ने अपना पकड़ा जाना और मारा जाना स्वीकार किया ताकि उसके भाई को पीछा करनेवालों से बचने का अवसर मिल जाये। अकलंक ने एक धोबी की सहायता से, जिसने उसको अपने कपड़ों की गठरी में छिपा लिया, अपने को बचा लिया और दीक्षा लेकर सुधापुर के देशीयगण का आचार्यवद शोभित किया।”

इस अंश से अकलंक की कथाओं में रोचकता अवश्य आजाती है और इसलिये कथासाहित्य में उन्हें अच्छा स्थान भी मिल सकता है, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व नष्ट हो जाता है। जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर अकलङ्क ने राजपाट छोड़ा और गृहस्थाश्रम से मुँह मोड़ा उसकी सिद्धि के लिये उनका बौद्धदर्शन का विद्वान् होना आवश्यक था और बौद्धदर्शन का विद्वान् होने के लिये किसी बौद्धाचार्य को गुरु बनाना भी आवश्यक था, क्योंकि एक तो किसी धर्म का जो रहस्य उसके अनुयायी विद्वान् के द्वारा प्राप्त हो सकता है वह दूसरे के द्वारा मिलना अशक्य है। दूसरे, इतिहास से पता चलता है कि उस समय जैनों में कोई अच्छे विद्वान् आचार्य भी नहीं थे। अतः बौद्धदर्शन का अध्ययन करने के लिये अकलङ्क का बौद्धमठ में प्रविष्ट होना बहुत अंशों में संभव है और इसके लिये उन्हें अपना असली रूप छिपाना भी पड़ा होगा। क्योंकि जब वीसर्वी शताब्दी के प्रारम्भ तक उत्तरभारत की काशी-पुरी में जैनविद्यार्थियों को अपना रूप छिपाकर विद्याभ्यास करना पड़ा है, तब सातर्वी शताब्दी में दक्षिण भारत की काशी काशीपुरी में, बौद्धधर्म के पालक पल्लवराज्य की छत्रछाया में, यदि अकलङ्क को बौद्ध बनकर विद्याभ्यास करना पड़ा हो तो अचरंज ही क्या है? और ऐसी दशा में रहस्य खुल जाने पर संकट भी आसकता है। किन्तु रहस्य खुल जाने के जो कारण दिये गये हैं वे कुछ ज़ंचते नहीं। छिपकर विद्याभ्यास करनेवाला व्यक्ति इस तरह बैठे बिठाये संकट माल नहीं ले सकता। तथा रहस्य का उद्घाटन और छापवेषियों की गिरफ्तारी हो जाने के बाद उनके साथ बौद्धधर्म के उपासकों का जो कूर व्यवहार बतलाया गया है वह

बीसवीं शताब्दी के व्यक्तियों को धार्मिक छेष के रंग में रँगा हुआ जान पड़ता है। यद्यपि धर्मो-न्माद सब कुछ करा सकता है और राजनैतिक इतिहास की तरह कुछ धर्मों का इतिहास भी रक्तपात और नृशंस हत्याओं से रखित है। तथा दक्षिण में सुन्दरपाण्डय नाम के राजा ने जैनधर्म को छोड़कर शैवधर्म स्वीकार करने के बाद ८००० जैनों को शाली पर चढ़ा कर भार डाला था। फिर भी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में उसे सत्य नहीं माना जा सकता। और यदि स्वीकार भी कर लिया जाये तो अकलङ्क के एक छोटे भाई निकलंक की समस्या आ जाती है।

### निकलङ्क ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है।

किसी भी शिलालेख या ग्रन्थ में निकलंक नाम के व्यक्ति का उल्लेख नहीं पाया जाता। दूसरों का तो कहना ही क्या, स्वयं अकलङ्क तक उसके सम्बन्ध में मूक हैं। जरा सोचिये तो सही, छोटा भाई बड़े भाई के प्राण बचाने के लिये सिर कटवाए और इस प्रकार जीवन के महान् उद्देश्य जिनशासन के प्रचार और प्रसार में सहायक हो और बड़ा भाई उसके इस महान् त्याग की स्मृति में उसका नाम तक भी न ले, क्या यह संभव है? हम हैरान हैं कि कथाकार ने किस आधार पर अकलङ्क के साथ एक निकलङ्क की कल्पना कर डाली।

दिग्म्बर कथाकारों के अकलङ्क की तरह श्वेताम्बर कथासाहित्य में हंस परमहंस की कथा वर्णित है। पहले में कम से कम इतनी तो ऐतिहासिकता है कि उसका मुख्य पात्र एक ऐति-

१ यह कथा चन्द्रघ्रभस्तुरि के प्रभावक चरित में वर्णित है। यह ग्रन्थ चिं० सं० १३३४ का बना हुआ है। श्री राजशेखर सूरि का बनाया हुआ एक चतुर्विंशतिप्रबन्ध नामक संस्कृत ग्रन्थ भी है। वह चिं० सं० १४०५ का बनाया हुआ है। उसमें भी हंस परमहंस की कथा लिखी हुई है। उसका सार यह है— हरिभद्रसूरि हंस परमहंस नामक अपने भानों को पढ़ाते थे। पिण्डित होने पर, वे गुरु के मना करने पर भी बौद्धों से पढ़ने के लिये चले गये। एक वृद्धा के पर ठहरे और घौंसेवा धारण करके पढ़ने लगे। वे कपलिका पर रहस्य लिख लेते थे। उनके प्रतिलिपन आदि किंविद्याओं से गुरु ने उन्हें श्वेताम्बर समझा। दूसरे दिन सीढ़ियों पर खरिया मिट्ठी से जिनविम्ब की आकृति बना दी गई। हंस परमहंस ने उस पर यज्ञोपवीत का चिन्ह बना दिया, और इस प्रकार उसे तुष्टिरूपी मानकर उठाय गये। और गुरु के पास पहुँचे। गुरु के मुख का भाव बदला हुआ देखकर, और वह सब प्रपञ्च गुरु का ही रका हुआ जानकर, पेट की पीड़ा का बहाना करके वे अपने निवासस्थान को छले गये और कई दिनों तक पढ़ने नहीं आये। वौद्धगुरु ने राजा से शिक्षापत्र की ओर कपलिका मण्डने के लिये आग्रह किया। सेना मेजी गई किन्तु हंस परमहंस ने उसे मार भगाया। पुनः बहुत सी सेना मेजी गई। तब एक भाई ने सेना से दृष्टि तुरद किया और दूसरा परमहंस कपलिका लेकर भाग गया। हंस मारा गया और उसका सिर-राजा के आगे उपस्थित किया गया। राजा ने गुरु को दिखाया। गुरु ने कपलिका लाने की आज्ञा दी। सैनिक पुनः गये और राजि में चित्रकूट नगर के द्वार पर सोते हुए परमहंस का सिर काटकर ले गये। हरिभद्रसूरि ने तुवह को उठाकर अपने प्रिय शिष्य का रुंड देखा, बड़े क्रोधित हुए। तस तैल की कवाई में १४४० बौद्धों को होम देने का विचार किया। गुरु ने बृत्तान्त जानकर साधुओं की हाथ गाथाएँ “मेजी” आदि। इस कथानक में शास्त्रार्थ तथा धोविवाली घटना नहीं आई है। मुनि पुण्यविजयजी से जात हुआ है कि प्रभावकचरित से पहले के किसी ग्रन्थ में हंस परमहंस की कथा नहीं मिलती। भद्रेश्वरसूरि का बनाया हुआ प्राकृतभाषा का एक कथावली नामक ग्रन्थ है। मुनि जिनविजयजी द्वारा १२ वीं शताब्दी की रचना अनुमान करते हैं। इसमें भी चिद्दसेन दिवाकर के बाद हरिभद्रसूरि का एक कथावली दिया है। मुनि पुण्यविजयजी ने कृपा करके इस कथा की प्रेसकापी हमारे देखने के लिये मेज दी थी। कापी में स्थान पर पाठ छोटे हुए हैं। कथा का आशय निम्नप्रकार है—

हासिक व्यक्ति है और उसके सम्बन्ध की कुछ बातों का समर्थन शिलालेखों और विभिन्न अन्य-कारों के उल्लेखों से होता है, किन्तु दूसरे के तो पात्र भी ऐतिहासिक व्यक्ति प्रमाणित नहीं होते

“हरिभद्र ब्राह्मणपुत्र थे। उन्हेंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं जिसका कथन नहीं समझ सकूँगा उसका शिष्य हो जाऊँगा। एक समय हरिभद्र चित्तौर आये। वहाँ जिनदत्ताचार्य के संघ में याकिनी नामकी एक साध्वी रहती थी। एक दिन हरिभद्र ने याकिनी के मुख से ‘चक्रिदुर्गं हरिपणगं’ इत्यादि गाथा सुनी, किन्तु उसका अर्थ न समझ सके। हरिभद्र ने साध्वी से गाथा का अर्थ पूछा तो साध्वी उन्हें गुरु के पास ले गई। गुरु जिनदत्ताचार्य ने गाथा का अर्थ समझाया। हरिभद्र ने अपनी प्रतिज्ञा की बात कही। याचार्य ने साध्वी का धर्मपुत्र हो जाने के लिये कहा। हरिभद्र ने धर्म का फल पूछा। याचार्य ने कहा कि सकामवृत्तिवालों के लिये स्वर्वर्गप्राप्ति और निष्कामकर्मवालों के लिये भवविरह (संसार का अन्त) धर्म का फल है। हरिभद्र ने भवविरह की इच्छा प्रकट की और जिनदत्ताचार्य ने उन्हें जिनदीक्षा दे दी। हरिभद्र के जिनभद्र और वीरभद्र नामकी दो शिष्य थे। उस समय चित्तौड़ में बौद्धमत का प्रावल्य था और बौद्ध हरिभद्रसे ईर्षा करते थे। एकदिन बौद्धों ने हरिभद्र के दोनों शिष्यों को एकान्त में मारडाला। यह सुनकर हरिभद्र को बहुत दुःख हुआ और उन्हेंने अनशन करने का निश्चय किया। प्रभावक पुरुषों ने उन्हें ऐसा करने से रोका और हरिभद्र ने ग्रन्थराशि को ही अपना पुत्र मान उसकी रचना में चित्त लगाया। ग्रन्थनिर्माण और लेखन-कार्य में जिनभद्र वीरभद्र के काका ललिक ने बहुत सहायता की। हरिभद्र जब भोजन करते थे ललिक शहूँ बजाता था। उसे सुनकर बहुत से याचक एकत्र हो जाते थे। हरिभद्र उन्हें ‘भवविरह करने में प्रयत्न करो’ कहकर आशीर्वाद देते थे। इससे हरिभद्रसुरि भवविरहसूरि के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। प्रभावकचरित के वर्णन की अपेक्षा कथावली का लेख प्रामाणिक जैंता है और भवविरह शब्द की जो उपपत्ति कथावली में दी गई है वह हृदय को लगती है। हंस परमहंस नामकी अपेक्षा जिनभद्र वीरभद्र नाम भी वास्तविक जैंते हैं। प्रभावकचरित के गुरुराती अनुवाद की प्रस्तावना में मुनि कल्याणविजयजी लिखते हैं—“अमारा विचार प्रमाणे कथावलींतुं प्राचीन लक्षणं जे प्रामाणिक लागे छे, कारण के हंस अने परमहंस जैवा नामों जैन श्रमणोंमां प्रचलित न होवा थी, ऐ नामों या तो कलिपत हौवां जैश्ये अने नहि तो उपनाम होइ शके, पण आवां मूल नामों होवां संभवतां नथी। ऐ सिवाय बीजु पण कथावलीमां लेखली हकीकत वास्तविक जणाय छे, प्रबन्धमां केटलाक बनावो अतिशयोक्तिपूर्ण अने कलिपत जैवा लागे छे।”

जिन दिग्म्बर कथाकोशों में अकलङ्क की कथा वर्णित है उनमें से नेमिदत्तका कथाकोश प्रभाचन्द्र के गयकथाकोश का ही पदों में रूपान्तर है। विं स० १५४५ के लगभग नेमिदत्त के अस्तित्व का पता लगाया गया है। गयकथाकोश के बारे में प्रेमीजी का अनुमान है कि यह गयकथाकोश बहुत करके उन्हीं प्रभाचन्द्र का बनाया हुआ है जिनके पद पर पद्धननिद भाष्ट्रक सं० १२८५ में बैठे थे। अर्थात् वे उसे वि० की चौदहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं। रेकर्डश्रावकाचार की प्रभाचन्द्रकृत संस्कृतटीका में, जो इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुई है, कुछ कथाएँ मिलती हैं। हमने उक्त टीका में दत्त सम्बन्ध के आठ अङ्गों की कथाओं का गयकथाकोश की कथाओं से मिलान किया तो उनमें अक्षरशा ऐक्य पाया। क्वचित् क्वचित् टीका में पाठ छूट गया है जो कथाकोश से पूर्ण हो जाता है। एक दो जगह साधारणसा शब्दमेद भी प्रतीत हुआ किन्तु वह प्रतिमेद का ही परिणाम जान पड़ा। पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार ने उक्त टीका का रचनाकाल वि० स० १३०० के लगभग अन्दाजा है। अतः यदि रेकर्डश्रावकाचार की टीका में दत्त उक्त कथाएँ गय-कथाकोश से ली गई हों या दोनों का कर्ता एक हो तो कथाकोश वि० की १३ वीं शताब्दी के बाद की रचना नहीं हो सकता। हमारा अनुमान है कि अकलङ्क के भाई निकलङ्क और उसकी मृत्यु आदि की कल्पना श्रेत्रम्बरग्रन्थ कथावली वौरह के प्रभाव का फल है और प्रभावकचरित में वर्णित हंस परमहंस की कथा पर गयकथाकोश में वर्णित अकलङ्क की कथा का प्रभाव है क्योंकि हंस परमहंस की कथा में शास्त्रार्थ तथा धोवी वौरह की घटना कथाकार की जोड़ी हुई सी प्रतीत होती है।

और उसके चित्रण में भी कल्पना से पहले की अपेक्षा अधिक काम लिया गया प्रतीत होता है। तथा ऐसा जान पड़ता है कि पहले की कथा का दूसरे पर प्रभाव है। कथा इस प्रकार है—

### हंस परमहंस की कथा

हरिभद्र सूरि के हंस और परमहंस नामके दो शिष्य थे। पिता के कर्कश वचनों से विरक्त होकर दोनों ने दीक्षा लेली थी। न्याय, व्याकरण आदि का अध्ययन कर चुकने के बाद उनकी इच्छा हुई कि हम बौद्धदर्शन का भी अध्ययन करें। उन्होंने बौद्धों के नगर में जाकर बौद्धदर्शन का अध्ययन करने की इच्छा गुरु पर प्रकट की। निमित्तज्ञानी गुरु ने भावी को जानकर उन्हें वैषा करने से रोका और स्वेदश में ही किसी गुणी यति से बौद्धशास्त्र पढ़ने की सम्भवि दी। किन्तु भावी बलवान है। दोनों भाइयों ने सुगतपुर अर्थात् बौद्धों की नगरी को प्रस्थान किया और वहाँ पहुंच कर एक बौद्धमठ में पढ़ने लगे। उन्होंने एक पत्र पर जिनमत की युक्तियों के खण्डन का प्रतिखण्डन और दूसरे पर सुगतमत के दूषण लिख रखे थे। दैवयोग से एक दिन वे पत्र हवा में उड़ गये और किसी तरह बौद्धगुरु की दृष्टि में जा पड़े। उन्हें देख कर गुरु को किसी जैन छात्र के होने का सन्देह हुआ। परीक्षा के लिये उसने मार्ग में जिनविन्द का चित्र बनवा दिया और सब छात्रों को उस पर पैर रखकर आने की आज्ञा दी। प्राणेण पर संकट जानकर दोनों भाइयों ने खड़िया भिट्ठी से प्रतिमा के हृदय पर यज्ञोपवीत का चिन्ह बना दिया और तब उसे मुद्रप्रतिमा मानकर वे झट लांघ गये। तब दूसरी परीक्षा का समय आया और रात्रि में ऊपर से वर्तन डालकर चौंका देनेवाला शब्द किया गया। सब विद्यार्थी जाग पड़े और अपने अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। हंस परमहंस ने भी जिनदेव का स्मरण किया और पहरे पर नियुक्त चरों ने उसे सुन लिया और वे पकड़ लिये गये तथा महल की छत पर रखे गये। मृत्यु के भय से दोनों भाइ छात्रों की सहायता से पृथ्वी पर आये और भाग दिये। उन्हें पकड़ने के लिये सवार दौड़ाये गये। सवारों को निकट आया जान हंस ने अपने छोटे भाई को तो सूरपाल राजा की शरण में भेज दिया और आप लड़कर मारा गया।

सवार राजा के पास गये और उससे अपना अपराधी मांगा। किन्तु राजा ने देने से साफ़ इन्कार कर दिया और शास्त्रार्थ का प्रस्ताव रखा। अधिपति ने प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया। किन्तु यह कह कर कि बुद्ध के मस्तक पर पैर रखनेवाले व्यक्ति का मुख हम नहीं देख सकते, हंस का मुख देखने से इन्कार कर दिया।

बौद्धों ने घट में अपनी देवी का आहान किया और उससे हंस का शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ बहुत दिनों तक चला। अन्त में जिनशासनदेवी के द्वारा बतलाये गये उपाय से काम लिया गया। हंस ने विजय पाई और पर्दा खींच कर घड़े को पैर से फोड़ डाला।

हंस ने विजय तो पाई किन्तु उसकी विपत्ति का अन्त नहीं हुआ। पराजित बौद्ध और भी कृपित होगये। अस्तु, किसी तरह उनसे आंख बचाकर वह सूरपाल से बिदा हुआ। रास्ते में उसने एक घोबी देखा और सवारों को समीप आया जानकर उससे कहा—‘भागो सैना आरही

१ इस कथा के रचनाकाल में, श्वेताम्बरसंप्रदाय में, जिनविन्द का श्वजार करने की प्रथा प्रचलित ही चुकी थी। संभवतः इसी से अकलहृ की कथा में वर्णित, मूर्ति पर धागा डालकर उसे लांघने की घटना के स्थान में यज्ञोपवीत बनाकर उसे लांघने की कल्पना की गई है।

है।' बेचारा धोवी कपड़े धोना छोड़कर भाग खड़ा हुआ और परमहंस ने उसका स्थान ले लिया। सवारों के निकट आने पर और उस से उस मार्ग से जाने वाले एक मनुष्य का पता पूछने पर परमहंस ने भागते हुए धोवी की ओर संकेत कर दिया और इस प्रकार अपनी जान बचाकर गुरु के पास पहुंचा। और सब हाल सुनाते हुए तीत्र शोक के बेग से उसकी छाती फट गई और वह मर गया।

हरिभद्र सूरि को अपने प्रियशिष्यों की मृत्यु से बहुत खेद हुआ और उसका बदला लेने के लिये उन्होंने बहुत से बौद्ध पंडितों को शास्त्रार्थ में हराया और शर्त के अनुसार उन बौद्धों को तप्त तैल में डाल दिया।

किसी किसी का बहना है कि बौद्धों पर कुद्रु होकर उन्होंने आकर्षिणीविद्या के द्वारा उन्हें तप्त तैल में झोक दिया। जब उनके गुरु को इस समाचार की सूचना मिली तो उन्होंने उनके पास क्रोध की शान्ति के लिये कुछ गथा लिखकर भेजी, जिससे वे शान्त हुए। हरिभद्र के प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में 'विरह' शब्द आता है जो उनके प्रियशिष्यों के वियोग का चिह्न है।"

इस कथा को पढ़कर पाठक कथाओं के ऐतिहासिक मूल्य का अनुमान लगा सकेंगे। अतः अकलङ्क की कथा के आधार पर निकलङ्क को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना जा सकता। किन्तु तत्कालीन परिस्थिति, बौद्धों से मुठभेड़ और अकलङ्क के साहित्य में विशेषतया बौद्ध-वाद का खण्डन देखकर अकलङ्क के बौद्धमठ में अध्ययन करने की किंवदन्ती सत्य प्रतीत होती है। विलसन साहब की 'मैकेंजी कलेक्शन' नामक पुस्तक के आधार पर राईस साहब ने लिखा है कि पोनतग के बौद्धविद्यालय में अकलङ्कदेव ने शिक्षा पाई थी।

### शास्त्रार्थ अकलंक

बौद्धविद्यालय में अध्ययन कर चुकने के बाद गृहस्थागी अकलङ्क के सामने जीवन के महान् उद्देश्य को पूरा करने की समस्या उपस्थित हुई। उस समय विद्वत्समाज में शास्त्रार्थ करने का बहुत प्रचार था और राजा तथा प्रजा दोनों ही उसमें क्रियात्मक भाग लेते थे। इन शास्त्रार्थों का फल केवल जय और पराजय ही नहीं होता था किन्तु धर्मप्रचार का यह एक मुख्य साधन समझा जाता था। ये शास्त्रार्थ बहुत करके राजसभाओं में होते थे और राजन्यवर्ग उनमें मध्यस्थ रहता था। यदि राजा बुद्धिमान् शास्त्रज्ञ और विवेकी होता था तो विजयी पश्च से प्रभावित होकर उसका धर्म स्वीकार कर लेता था और 'वथा राजा तथा प्रजा' की नीति का प्राधान्य होने के कारण प्रजा भी उसका अनुसरण करती थी। फलतः शास्त्रार्थ के द्वारा राज्य का राज्य स्वर्थम् बनाया जा सकता था। इसी लिये उस समय के बादी विद्वान् राजाओं की तरह दिव्यज्ञय करने के लिये निकलते थे और मुख्य २ राजसभाओं में जाकर स्वामी समन्तभद्र की तरह ललकार कर कहते थे—

**"राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्मन्यवादी"**

चीनी यात्रा फाहियान और ह्यूनत्सांग ने अपने अपने यात्राविवरण में कई शास्त्रार्थों का उल्लेख किया है। ह्यूनत्सांग सातवीं शताब्दी के मध्य में भारत आया था और बहुत समय तक नालन्दा के बौद्धविद्यापीठ में रहा था। एक बार वह भी एक शास्त्रार्थ करने के लिये गया था। नालन्दा विश्वविद्यालय का वर्णन करते हुए वह लिखता है—“सबेरे से शाम तक

लोग वाद-विवाद में व्यस्त रहते हैं। बुद्ध हो अथवा युवा, शास्त्रार्थ के समय सब मिल जुल कर एक दूसरे की सहायता करते हैं। '.....अन्य नगरों के विद्वान् लोग, जिनको शास्त्रार्थ में शीघ्र प्रसिद्ध होने की इच्छा होती है, तुँड के हुँड यहाँ आकर अपने संदेहों का निवारण करते हैं।'.....अगर दूसरे प्रान्तों के लोग शास्त्रार्थ करने की इच्छा से इस संघाराम में प्रवेश करना चाहें तो द्वारपाल उनसे कुछ कठिन कठिन प्रश्न करता है जिनको सुनकर ही कितने ही तो असमर्थ और निहत्तर होकर लौट जाते हैं। उन विद्यार्थियों की, जो यहाँ पर नवागत होते हैं और जिनको अपनी योग्यता का परिचय कठिन शास्त्रार्थ के द्वारा देना होता है, उत्तीर्ण संख्या दस में ७ या ८ होती है।'

इस विवरण से अनुमान किया जा सकता है कि उस समय शास्त्रों का कितना प्रावस्य था और उनमें भाग लेने के लिये किस श्रेणी की विद्वत्ता की आवश्यकता थी। अध्ययन समाप्त करने के बाद कार्यक्रम में अवर्तीन होने पर अकलंकदेव को भी राजसभाओं में जाकर जिनशासन की विजयवैजयन्ती फहराने के सुअवसर मिले। स्वामी समन्तभद्र की तरह विभिन्न देशों को दिविजय करते हुए पर्यटन करने का उल्लेख तो उनके बारे में नहीं मिलता। किन्तु कुछ राजसभाओं में बौद्धों के साथ उनको मुठभेड़ होने का वर्णन पाया जाता है। तथा कई शिलालेख और ग्रन्थकार उन्हें बौद्धों का विजेता कहते हैं।

कथाकोश में उनके एक शास्त्रार्थ का वर्णन इस प्रकार किया है—“कलिंगदेश में रक्षसंचय-पुर नामका नगर था। बहाँ हिमशीतल राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम मदन-सुन्दरी था। एक बार अष्टाहिकापर्व के अवसर पर रानी ने जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकालने का विचार किया। किन्तु बौद्धगुरु संघवी ने राजा को बहकाकर रथयात्रा उत्सव बन्द करा दिया। और यह शर्त रखी गई कि यदि कोई जैन विद्वान् शास्त्रार्थ में बौद्धों को हरा सकेगा तो रथयात्रा का उत्सव मनाने दिया जायेगा। रानी ने कोई उपाय न देखकर, स्वाना-पीना त्याग कर जिन भन्दिर में ध्वन लगाया। आधी रात्रि के समय चक्रेश्वरी देवी का आसन ढोला और उसने दिन तिकलने पर अकलंकदेव के पदारने का सुसन्धार सुनाया। अकलंकदेव आये और हिमशीतल राजा की सभा में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। सभा के बीच में एक परदा पड़ा था और उसके अन्दर से संघवी शास्त्रार्थ करता था। छह मास हो गये, किन्तु किसी की भी हार नहीं हुई। एक दिन रात्रि के समय अकलंक इसी उथेंडुन में पड़े हुए थे कि चक्रेश्वरी देवी ने खबर दी कि परदे की ओट से बौद्धों की इष्टदेवी तारा शास्त्रार्थ करती है। उसने उन्हें सम्मति दी कि कल को वे देवी से प्रकारान्तर से प्रश्न करें। अगले दिन अकलंक ने वैसा ही किया तो उत्तर न मिला। आगे बढ़कर उन्होंने पर्दा खींच लिया और घड़े को ठोकर से फोड़ डाला। जैनथर्म की खब्र प्रभावना हुई और बड़े ठाठबाट से जिनेन्द्रदेव की सवारी निकली।”

रईस स० के द्वारा सङ्कलित कथा में इस वाद के बारे में लिखा है—“अकलङ्कदेव ने दीक्षा लेकर सुधापुर के दीशीयण का आचार्यपद सुशोभित किया। इस समय अनेक मर्तों के विद्वान आचार्य बौद्धों से वादविवाद में हार खाकर दुःखी हो रहे थे। उनमें से वीरैशूव सम्प्रदाय के आचार्य सुधापुर में अकलङ्कदेव के पास आये और उनसे उन्होंने सब हाल कहा। इस

<sup>1</sup> कलन्चुरि वंशीय राजा विजल के संत्री वसव ने विं स० १२०० के लगभग वीरैशूव सम्प्रदाय की स्थापना की थी। अतः अकलंक के समय में यह सम्प्रदाय नहीं हो सकता। यह कलालेख की भागदृश्यता है।

पर अकलङ्कदेव ने वहाँ जाने और बौद्धों पर विजय प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। अकलङ्क ने अपनी मधुरपिंडिका को छुपाकर, जिससे वे जैनमती जाने जाते, बौद्धों को यह विश्वास दिलाने की योजना की कि वे शैव हैं और इस दंग पर उनको बाद में जीतकर पीछे उन्हें अपनी मयूरपिंडिका दिखलादी। इस पर बौद्धलोग बहुत ही कुद्ध और उत्तेजित हुए। कांची के बौद्धों ने जैनियों का हमेशा के लिये अन्त कर डालने के अभिप्राय से अपने राजा हिमशीतल को इस बात के लिये उत्तेजित किया कि अकलङ्क को इस शर्त के साथ उनसे बाद करने के लिये बुलाया जाये कि जो कोई बाद में हार जाये उसके सम्प्रदाय के कुल मनुष्य कोल्हू में पिलवा दिये जायें। बाद हुआ। (बाद का वर्णन कथाकोश से विलकुल मिलता है केवल इतना अन्तर है कि यहाँ चक्रशब्दी देवी के स्थान में कुमांडिनी देवी की अकलङ्कदेव को तारा की सूचना दी थी) और जैनों की विजय हुई। राजा ने बौद्धों को कोल्हू में पिलवा देने का हुक्म दे दिया। परन्तु अकलङ्क की प्रार्थना पर वे समस्त बौद्ध सीलोन के एक नगर कैंडी को निर्वासित कर दिये गये।

हिमशीतल राजा की सभा में अकलङ्क के शास्त्रार्थ और तारा देवी की पराजय का उल्लेख श्रवणबेलगोला की मत्लिषेणप्रशस्ति में भी किया है। तथा उसमें राजा साहसरुंग की सभा में अकलङ्क के जाने और वहाँ आत्मशलाघा करने का भी वर्णन है। प्रशस्ति के श्लोक इस प्रकार हैं—

“तारा येन विनिर्जिता घटकुटिगृदावतारा सम्  
बौद्धर्या वृतपीठपीडितकुद्रुदेवात्तसेवाज्जलिः ।

प्रायश्चित्तमिवांश्रिवारिजरजः स्नानन्ध यस्याचर—

होषाणां सुगतः स कस्य विषयो देवाकलङ्कः कृती ॥

चूर्णिः । यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते—

राजन्साहसरुक्ष सन्ति वहवः श्वेतातपत्राः नृपाः

किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोचता हुर्लभाः ।

तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वार्मिनो

नानाशास्त्रविचारचारुराधियः काले कलौ मद्विधाः ॥ १ ॥

राजत् सर्वादिर्दर्पयविदलनपटुस्वं यथात्र ग्रसिद्ध—

स्तद्वत्स्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटने पाण्डितानाम् ।

नोचेदेषोऽहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महान्तो

घुरुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषाश्वो यदि स्यात् ॥ २ ॥

नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं

नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारण्यबुद्ध्या मया ।

राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो

बौद्धैषान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः ॥ ३ ॥”

१ यहाँ ‘सुगतः’ के स्थान में ‘स घटः’ पाठ सम्भव प्रतीत होता है। क्योंकि ‘पादेन विस्फोटितः’ के साथ उसकी सङ्गति ठीक बैठती है और हिमशीतल की सभा की घटना—पैर से घड़े को फोड़ने—का भी भाव स्पष्ट हो जाता है। अन्यथा ‘सुगत को पैर से फोड़ दिया’ अर्थ असङ्गत प्रतीत होता है।

**अर्थात्—**“जिसने गुप्तरूप से घट में अववारित तारा देवी को बौद्धों के सहित परास्त किया, तिहासन के भार से पीड़ित मिथ्याहृषि देवों ने जिसकी सेवा की। और मानों अपने दोनों का प्राप्तयित्व करने ही के लिये बौद्धों ने जिसके चरणकमल की रक्ष में स्नान किया उस कृती अकलङ्क की प्रशंसा कौन कर सकता है? सुना जाता है कि उन्होंने अपने असाधारण निरबद्ध पांचित्य का वर्णन इस प्रकार किया था—

राजन् साहसतुङ्ग! श्वेत छत्र के धारण करनेवाले राजा बहुत से हैं किन्तु आपके समान रणविजयी और दानी राजा दुर्लभ है। इयी तरह पांचित तो बहुत से हैं किन्तु मेरे समान नानाशाखों के जानने वाले कवि, वादी और वामी इस कलिकाल में नहीं हैं।

राजन्! जिस प्रकार समस्त शत्रुओं के अभिमान को नष्ट करने में तुम्हारा चातुर्य प्रसिद्ध है उसी प्रकार विद्वानों के मद को जड़मूल से उखाड़ फेंकने में मैं पृथ्वी पर ख्यात हूँ। यदि ऐसा नहीं है तो आपकी सभा में बहुत से विद्वान् भौजद हैं उसमें से यदि किसी की शक्ति हो और वह समस्तशाखों का पारगामी हो तो मुझ से बाद करे।

राजा हिमशीतल की सभा में समस्त बौद्ध विद्वानों को जीतकर मैंने तारादेवी के घडे को पैर से फोड़ दिया। सो किसी अहङ्कार या द्वेष की भावना से मैंने ऐसा नहीं किया, किन्तु नैरात्म्यवाद के प्रचार से जनता को नष्ट होते देख कर, करुणावृद्धि से ही मुझे वैसा करना पड़ा।”

इस प्रशस्ति का ‘तारा येन विनिर्जिता’ आदि श्लोक तो प्रशस्तिकार का ही बनाया हुआ प्रतीत होता है कि शेष तीन पद्य पुरातन हैं और प्रशस्तिकार ने उन्हें जनश्रुति के आधार पर प्रशस्ति में सङ्कलित कर दिया है। इससे कथाओं में वर्णित अकलङ्क के शास्त्रार्थ की कथा शक सं० १०५० (प्रशस्तिलेखन का समय) से भी पहली प्रमाणित होती है।

अवविवेळांगोला के एक अन्य शिलालेख में भी अकलङ्क का स्मरण इस प्रकार किया है—

“भट्टाकलङ्कोऽकृत सौगतादिदुर्वचयपूर्वकस्तकलङ्कभूतम् ।

जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं समन्तादकलङ्कमेव ॥२१॥”

विन्ध्यगिरि पर्वत का शिलालेख नं० १०५

**अर्थात्—**“बौद्ध आदि दार्शनिकों के मिथ्या उपदेशलभी पङ्क से सकलङ्क हुए जगत को मानों अपने नाम को सार्थक बनाने ही के लिये भट्टाकलङ्क ने अकलंक कर दिया।”

कुछ ग्रन्थकारों ने भी अकलंक को बौद्धविजेता लिखकर स्मरण किया है। महाकवि वादिराज सूरि अपने पार्श्वनाथवरित (श० सं० १४८) में लिखते हैं—

“तक्मूवर्लभो देवः स जयत्कलङ्कधीः ।

जगद्रद्व्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः ॥”

“वे तार्किक अकलंकदेव जयवन्त हों, जिन्होंने जगत की वस्तुओं के अपहर्ता अर्थात् शून्यवादी बौद्धदस्युओं को दण्ड दिया।”

पाण्डवपुराण में तारादेवी के घडे को पैर से ठुकराने का उल्लेख इस प्रकार किया है—

“अकलङ्कोऽकलङ्कः स कलौ कलयतु श्रुतम् ।

पादेन ताडिता येन मायादेवी घटस्थिता ॥”

“कलि काल में वे कलङ्करहित अकलङ्क श्रुत को भूषित करें जिन्होंने घड़े में बैठी हुई मायादेवी—मायारूपधारिणी देवी को पैर से ढुकराया।”

हनुमच्चरित में लिखा है—

“अकलङ्कगरुजीयादकलंकपदेरवरः

बौद्धानां बद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहतः ।”

“अकलङ्क पद के स्वामी वे अकलङ्क गुरु जयवन्त हों जो बौद्धों की बुद्धि की वैधव्य-दीक्षा के गुरु कहे जाते हैं अर्थात् जिन्होंने बौद्धों की बुद्धि को विवेचना बना दिया ।”

अकलंक के बौद्धविजयसंश्वरधी उक्त उत्तरों के अतिरिक्त अन्य भी कुछ ऐसे उत्तरेख पाये जाते हैं जो उन्हें प्रबल ताकिंग और वादिशिरोमणि बतलाते हैं। यथा—

न्यायिविं विं के अन्त में बादिराज उन्हें 'ताकिंकलोकमस्तकमणि' लिखते हैं। न्यायकुमुद-चन्द्र के तृतीय परिच्छेद के अन्त में आचार्य प्रभाचन्द्र उन्हें 'इतरमतावलम्बीवादिरूपी गजेन्द्रों का दर्पण नष्ट करनेवाला सिंह बतलाते हुए लिखते हैं—

“ इत्थं समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्पमुलयचमलमानदृप्रहरैः ।

स्याद्वादकेसरसटाशततीत्रमूर्तिः पञ्चाननो भुवि जथत्यकलङ्कदेवः ॥१४॥

अष्टसहस्री के द्विषणकार लघुसम्भवद्वय 'सकलतार्किंकच्चूडामणिमरीचिमेचकितचरण-  
नखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवः' लिखकर उनकी तार्किकता के प्रति अपनी आगाध श्रद्धा  
प्रकट करते हैं। लघीयस्थाय के वृत्तिकार अभयचन्द्र ने भी उन्हें इसी विशेषण से भूषित  
किया है। स्याद्वार्देवाकार के रचयिता श्वेताम्बराचार्य देवसूरि 'प्रकटितविर्थान्तरयकलङ्कुडक-  
लङ्कः' लिखकर उन्हें मतान्तरों के दोषों का उद्ग्रावक बतलाते हैं। पचाप्रभमैलधारिदेव उन्हें  
'तर्कबजार्क'-तर्करूपी कमल के विकास के लिये सूर्य बतलाते हैं। विद्वत्समाजमें अकलंकदेव की  
तार्किकता और सभाचातुर्य की इन्हीं रूप्यति थी कि उत्तरकाल में विद्वानों में उन गुणों की  
गरिमा बतलाने के लिये उनके नाम को उपमा दी जाती थी। महाकवि वादिरौज की प्रशंसा  
में कहा गया है कि वे सभा में अकलंकदेव के समान थे। तथा मेघचन्द्र की प्रशंसा करते हुए  
उन्हें 'षड्वर्णनों में अकलंकदेव के समान नियुण' बतलाया है।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि अकलंकदेव अपने समय के एक विशिष्ट विद्वान् और सभा-चतुरवादी थे तथा बौद्धों को परास्त करने की घटना ने एक विश्रुत जनरव का रूप धारण कर लिया था। अतः अकलङ्ककथा का शास्त्रार्थसम्बन्धी भाग कल्पित नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसमें वर्णित बौद्धों का पर्दा डालना पढ़े के भीतर से घड़े में बैठी हुई तारादेवी का शास्त्रार्थ करना, अकलंक का उसे न जीत सकना, चक्रेश्वरी का आना और तारा को बीच में टोककर प्रकारान्तर से प्रश्न करने की सम्मति देना आदि, कुछ बातें ऐसी हैं जो बीसवीं शताब्दी के पाठकों के विस्तृत असङ्गत प्रतीत होती हैं। परन्तु इतिहास का परिशीलन करने से कथा-

१ पृ० ११३७ । २ निम्नसार की तात्पर्यवृत्ति के प्रारम्भ में । ३ सदसि यदकलङ्घः कीर्तने धर्म-कीर्तिः वच्चि सुरपुरोधा न्यायवदेऽपादः । इति समयगुणामेकतः सङ्गतानां प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादि-राजः ॥ ( vide ins no. 39. Nagar taluy by mr. Rice. )

<sup>४</sup> “पृथक्केष्वकलङ्कदेवविबुधः साक्षाद्यं भूतले ।” चन्द्रगिरि पर्वत का शिला० नं० ४७ (प्रो० हीरालाल)

में बर्णित कुछ बातों पर रोचक प्रकाश पड़ता है। शून्यसांग ने अपने आचारिवरण में एक ऐसे ब्राह्मण की कथा का उल्लेख किया है जो पर्दे में बैठकर शास्त्रार्थ करता था और जिसे अश्वघोष वाधिसत्त्व ने उसी रीति से पराजित किया था जिस रीति से तारादेवी को पराजित करने की बात कथा में कही गई है। शून्यसांग लिखता है—“एक ब्राह्मण था जिसने मनुष्यों की पहुँच से बहुत दूर जंगल में एक स्थान पर एक कुटी बनाई थी और वहाँ पर उसने सिद्धिलाभ करने के लिये राक्षसों का बलिप्रदान किया था। इस अन्तर्विक्षय सहायता को प्राप्त करके वह बहुत बड़े चढ़ कर बातें मारने लगा और बड़े जोश में आकर विवाद करने लगा। उसकी इन वक्तुओं का समाचार सारे संसार में फैल गया। कोई भी आदमी किसी प्रकार का प्रश्न उसके करे, वह एक परदे की ओट में बैठकर उसका उत्तर ठीक ठीक दे देता था। कोई भी व्यक्ति चाहे कैसा ही पुराना विद्वान और उच्च कोटि का बुद्धिमान हो, उसकी युक्तियों का खण्डन नहीं करपाता था।” इसी समय अश्वघोषवाधिसत्त्व भी वर्तमान था “वह उसकी कुटी पर गया और कहा—“मुझको आपके प्रसिद्ध गुणों पर बहुत दिनों से भक्ति है। मेरी प्रार्थना है कि जब तक मैं अपने दिल की बात न समाप्त करलूँ आप परदे को खुला रखें।” परन्तु ब्राह्मण ने बड़े घमंड से परदे को गिरा दिया और उत्तर देने के लिये उसके भीतर बैठ गया और अन्ततक अपने प्रश्नकर्ता के सामने नहीं आया। अश्वघोष ने विचार किया जब तक इसकी सिद्धि इसके पास रहेगी, तब तक मेरी बुद्धि बिहारी रहेगी। इस लिये उसने उस समय बातचीत करना बन्द कर दिया। परन्तु चलते समय उसने कहा—“मैंने इसकी करामत को जान लिया, यह अवश्य परास्त होगा।” वह सीधा राजा के पास चला गया और कहा—“यदि आप कुपा कक्षे मुझको आज्ञा दें तो मैं उस विद्वान महात्मा से एक विषय पर बातचीत करूँ।” “विवाद के समय अश्वघोष ने तीनों पिटक के गूढ़ शब्दों का और पञ्च महाविद्याओं के विशद सिद्धान्तों का आदि से अत तक अनेक प्रकार से बर्णन किया। इसी विषय को लेकर जिस समय ब्राह्मण अपना मत निरूपण कर रहा था उसी समय अश्वघोष ने बीच में टोक दिया—“तुम्हारे विषय का क्रमसूत्र खण्डित होगया, तुमको मेरी बातों का क्रमशः अनुसरण करना चाहिए।” अब तो ब्राह्मण का सुख बन्द होगया और वह कुछ न कह सका। अश्वघोष उसकी दशा को ताढ़ गया उसने कहा—“क्यों नहीं मेरी गुणी को सुलझाते हो? अपनी सिद्धि को बुलाओ और जितना शोषण हो सके उससे शाब्दिक सहायता प्राप्त करो।” यह कहकर उसने ब्राह्मण को दशा को जानने के लिये परदे को उठाया। ब्राह्मण भयभीत होकर चिल्हा उठा, “परदा बन्द करो, परदा बन्द करो।” इस कथा से इस बात का पता लगता है कि उस समय के कोई कोई मनुष्य इस तरह की कोई सिद्धि प्राप्त कर लेते थे जो शास्त्रार्थ के अवसर पर उनकी सहायता करती थी। संभवतः ऐसी सिद्धियाँ लीक्षणहास्ति मनुष्य के सामने अपना काम करने में असमर्थ होती थीं, इसी से बाजीगर की तरह पर्दे की ओट से उनका उपयोग किया जाता था और किसी प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर उनकी सहायता से तभी दिया जा सकता था जब कि वक्ता की बीच में टोका न जाये। टोकने पर उसका प्रवाह रुक जाता था और वह सब भूल जाता था। संभवतः अकलंकदेव को भी जिस बौद्ध विद्वान् से शास्त्रार्थ करना पड़ा था उसे तारादेवी सिद्ध थी और

शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने की अभिलाषा से पदें को ओट में घट रखकर उसने उसका आङ्गान किया था। किन्तु शास्त्रार्थ में वह स्वयं ही बोलता होगा, जैसा कि हम शून्यत्सांग के विवरण में पढ़ चुके हैं।

बौद्धसम्प्रदाय में तारादेवी का बड़ा सन्मान था और उसके तांत्रिक समाज की, जिसका एक समय भारत में बड़ा प्रभाव था, तारा अविद्यात्री देवी मानी जाती थी। बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से प्रकाशित बौद्धस्तोत्रसंग्रह की प्रस्तावना में डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने ताराविषयक साहित्य का परिचय करते हुए तिव्वतीय भाषा के ६२ तथा संस्कृत के ३४ प्रन्थों की तालिका दी है। इससे पाठक सरलता से समझ सकते हैं कि बौद्धसम्प्रदाय में तारा की किंतनी मान्यता थी। तारा का स्तवन करते हुए स्मरणस्तोत्र में लिखा है—

“विश्रान्तं श्रोतृपात्रे गुरुभिरुपहतं यस्य नाम्नायमैक्षं  
विद्वाद्गोष्ठीपु यथा श्रुतधनविरहामूकतामभ्युपोति ।  
सर्वालङ्कारभूषाविभवसमुदितं प्राप्य वागीश्वरत्वं  
सोऽपि त्वञ्जक्षिणक्त्वा हरति नृपसमे वादिसिंहासनानि ॥ २० ॥”

अर्थात्—“जिसने कभी गुरु के सुख से एक वाक्य भी नहीं सुना और जो अज्ञानी होने के कारण विद्वानों की सभा में एक शब्द भी नहीं बोल सकता, तुम्हारी भक्ति के प्रभाव से वह मनुष्य चतुरवक्ता हो जाता है और राजसभा में वादिरूपी लिंगों के आसन को हर लेता है—उन्हें पराजित कर देता है।”

इससे पता चलता है कि तारा को बुद्धिविद्वायिनी भी माना जाता था और उसकी भक्ति से न केवल मूक वाचाल हो जाता था किन्तु राजसभा में जाकर वादियों को पराजित भी कर सकता था। अतः कथा में वर्णित शास्त्रार्थ की रीति उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुकूल मालूम होती है। इस प्रकार शून्यत्सांग के संसारप्रसिद्ध ब्राह्मण की तरह इन्द्रजालिया बौद्धगुरु को अपने बुद्धिकौशल से पराजित करके अकलङ्कदेव ने तत्कालीन जनसमाज में काफी ख्याति प्राप्त की होगी, इसी से उनकी इस विजय का उल्लेख जगह जगह पाया जाता है।

इस प्रसिद्ध शास्त्रार्थ के अतिरिक्त भी अकलङ्कदेव ने अन्य अनेकों शास्त्रार्थ किये, क्योंकि उनके जीवन का लक्ष्य केवल एक शास्त्रार्थ से पूरा होनेवाला न था और उस समय सर्वत्र विषक्षियों का इतना प्राधान्य था कि उनको पराजित किये बिना कुछ कर सकना अशक्य था।

### ग्रन्थकार अकलङ्क

पिछले प्रकरण में अकलङ्कदेव के शास्त्रार्थरूप का दिग्दर्शन कराते हुए शिलालेखों और ग्रन्थकारों के अनेक उल्लेखों के आधार पर हम उनकी वाक्पटुता और तार्किकता का धोड़ा सा परिचय करा आये हैं। किन्तु वह परिचय साक्षात् न होकर परम्परया है। उनकी अगाध विद्वत्ता, प्रौढ़लेखनी और गृह्यअभिसन्धि का साक्षात् परिचय प्राप्त करने के इच्छुक जन को उनकी साहियरंगोत्री में मज्जन करने का प्रयास करना होगा। उनके लघीयस्थल प्रकरण का परिचय कराते समय हम उनकी शैली आदि के सम्बन्ध में कुछ बातें बतला आये हैं उनका लेख, गद्य हो या पद्य, सूत्र की तरह अति संक्षिप्त, गहन, और अर्थबहुल है। धोड़े से

शब्दों में बहुत कुछ कहजाना उनकी विशेषता है। उन्होंने अपने प्रश्नों के भाष्य भी स्वयं लिखे हैं किन्तु वे भी इसने दुरुह और जटिल हैं कि व्याख्याकारों को भी उनका व्याख्यान करने में एक स्वर से अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ी है। अकलङ्क के व्याख्याकारों में अनन्तवीर्य और स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्द ये दो विद्वान बहुत ही प्राकमी और बुद्धिवैभव-सम्पन्न हुए हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र और वादिराज ने अपने अपने व्याख्यानग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि अनन्तवीर्य की उक्ति की सहायता से ही वे अकलङ्क को समझने में समर्थ हो सकते हैं।

न्यायकुमुदचन्द्र के चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ करते हुए प्रभाचन्द्र लिखते हैं—

“त्रिलोकयोदरवर्तिवस्तुविषयज्ञानप्रामाणोदयो

दुष्प्रापोऽप्यकठोङ्कदेवसरणिः प्राप्तोऽत्र पुण्योदयात् ।

स्वभ्यस्तथ निवेदितश्च शतशः सोऽनन्तवीर्योऽनितो

भूयान्मे नयनीतिदत्तमनस्तद्वोषसिद्धिप्रदः ॥”

अर्थात्—“त्रिलोकवर्ती वस्तुओं के ज्ञानके प्रभाव से अकलङ्कदेव की सरणि-पद्धति का उदय हुआ है अर्थात् त्रिलोकवर्ती वस्तुओं का ज्ञाता होने के कारण ही अकलङ्कदेव अपनी शैली को जन्म देसके हैं। यह शैली दुष्प्राप्त होने पर भी भाग्योदय से प्राप्त होगई है और अनन्त-वीर्य की उक्तियों से बारम्बार मैने उसका अभ्यास और विवेचन किया है।” आदि।

न्यायविनियथविवरण को प्रारम्भ करते हुए वादिराजसूरि लिखते हैं—

“गृहमर्थमकलंकवाङ्मयागाधूमीनिहितं तदर्थिनाम् ।

व्यज्यत्यमलमनन्तवीर्यवाक् दीपशर्तिर्निश्च पदे पदे ॥”.

अर्थात्—“अकलङ्क की वाङ्मयरूपी अगाधभूमि में निश्चिप्त गृह आश्रय को अनन्तवीर्य के वचनरूपी दीपशिरा रत्नदिन पद पद व्यक्त करती है।”

अकलङ्कदेव के वाङ्मय की गहनता और अपनी असमर्थता बतलाते हुए वादिराज और भी लिखते हैं—

“भूयोमेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयम्

कस्तद्विस्तरतो विविच्य वदतुं मन्दः प्रभुमाद्वजः ॥”

अर्थात्—“अकलङ्कदेव की वाणी अनेक भङ्ग और नयों से व्याप्त होने के कारण अति गहन है। मेरे समान अल्पव्याप्ति प्राणी उसका विस्तार से कथन, और वह भी विवेचनात्मक, कैसे कर सकता है ?”

इस प्रकार अनन्तवीर्य की उक्तियों से सहायता लेकर भी वादिराज अकलङ्कदेव के वाङ्मय की गहनता का अनुभवन करते हैं। अब देखिये कि स्वयं अनन्तवीर्य इसके सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

अपनी सिद्धिविनियथविवरण का प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

“देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः ।

न जगनीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतद् परं भुवि ॥”

**अर्थात्—**“यह बड़े अचरज की बात है कि अनन्तवीर्य—अनन्तशक्तिशाली भी अकलङ्कदेव के प्रकरण को पूरी तरह व्यक्त करना नहीं जानता।” इसी तरह आचार्य विद्यानन्द ने भी अकलङ्क के प्रकरणों को अनुपम बतलाया है।

अकलङ्कदेव की रचनाएँ दो प्रकार की हैं, एक पूर्णाचार्यों के ग्रन्थों पर भाष्यरूप और दूसरी स्वतंत्र। प्रथम प्रकार की रचनाओं में दो ग्रन्थ हैं एक तत्त्वार्थराजवार्तिक और दूसरा अष्टशती, तथा द्वितीयप्रकार की रचनाओं में लघीयस्थाय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाण-संग्रह, स्वरूपसम्बोधन, वृहत्त्रय, न्यायचूलिका, अकलंकस्तोत्र, अकलङ्कप्रायश्चित्त, और अकलङ्कप्रतिष्ठापाठ ये दस ग्रन्थ समिलित किये जाते हैं। इन ग्रन्थों के अकलङ्करचित होने की विवेचना और उनका संक्षिप्त परिचय नीचे क्रमशः दिया जाता है।

**तत्त्वार्थराजवार्तिक (सभाष्य)**—उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रों के दो पाठ प्रचलित हैं, उनमें से एक पाठ दिगम्बरजैनों में प्रचलित है और दूसरा श्वेताम्बरजैनों में। दिगम्बरपाठ के आधार पर इस ग्रन्थराज की रचना की गई है। सप्त तत्त्वों का वर्णन होने के कारण उक्त सूत्र-ग्रन्थ ‘तत्त्वार्थ’ के नाम से प्रसिद्ध है। महत्ता और गाम्भीर्य की दृष्टि से उसे तत्त्वार्थराज के आदरणीय नाम से भी पुकारा जाता है। इसी से प्रकृत वार्तिकग्रन्थ को तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थराजवार्तिक कहा जाता है। पहले की अपेक्षा दूसरा नाम अधिक व्यवहृत है और उसका ‘तत्त्वार्थ’ पद उड़ाकर कैबल ‘राजवार्तिक’ नाम रूढ़ होगया है। तत्त्वार्थसूत्र की उपलब्ध आद्यटीका पूज्यपाद देवनन्द की सर्वार्थसिद्धि है। वार्तिककार ने इस टीका का न कैबल अनुसरण ही किया है किन्तु उसकी अधिकांश पंक्तियों को अपनी वार्तिक बना लिया है। वार्तिक के साथ उसकी व्याख्या भी है। ग्रन्थकारों ने दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया है। उद्योतकर के न्यायवार्तिक और उसकी व्याख्या की तरह दोनों एककर्त्तक ही प्रसिद्ध हैं। मूलग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र दस अध्यायों में विभक्त है अतः राजवार्तिक में भी दस ही अध्याय हैं किन्तु न्यायवार्तिक की तरह ही प्रत्येक अध्याय को आद्यिकों में विभक्त कर दिया गया है। इससे पहले जैनसाहित्य में अध्याय के आद्यिकों में विभाजन करने की पद्धति नहीं पाई जाती। यह ग्रन्थ भारतीय जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था से प्रकाशित होचुका है। उसमें ‘जीयविद्मकलङ्कवद्वा’ आदि श्लोक को छोड़कर कहीं भी ग्रन्थकार का नाम नहीं आता। अभी तक कैबल परम्परा और प्रौढ़ शैली के आधार पर ही इसे अकलङ्कदेवरचित माना जाता था किन्तु सिद्धिविनिश्चय की टीका के एक उल्लेख पर से अब इसके प्रसिद्ध अकलङ्कदेवरचित होने में कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता।

अकलङ्क के अन्य ग्रन्थों की तरह इसकी शैली भी अतिप्रौढ़ और गहन है। वार्तिक तो प्रायः सरल और संक्षिप्त हैं किन्तु उनका व्याख्यान इतना जटिल है कि उसको विशद करने के लिये न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका की कोटि की एक टीका का अभाव पद पद पर अखरता है। अकलङ्क के अन्य ग्रन्थों के अवलोकन करने से पाठक के मानस पर उनके कैबल प्रौढ़ दार्शनिकरूप का ही चित्रण होता है किन्तु इस ग्रन्थ में उसे उनकी त्रिमूर्ति—दर्शनिक संदानिक और वैयाकरण के दर्शन होते हैं। उनका बहुश्रुतत्व और सर्वाङ्गीण पाण्डित्य इसी एक ग्रन्थ से प्रकट

१ न्यायदीपिका में ‘यदराजवार्तिकम्’ और ‘भाष्यम्’ करके दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया है।

२ “सूरिण अकलङ्कन वार्तिककारेण” २५० २५४ २५०।

हो जाता है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता और भी है। इसमें जैनदर्शन के प्राण अनेकान्तवाद को बहुत व्यापक रूप दिया गया है। जितने विवाद उत्पन्न किये गये हैं उन सबका समाधान प्रायः अनेकान्तरूपी तुला के आधार पर ही किया गया है। खोजने पर ऐसे विरले ही सूत्र मिलेंगे जिनमें ‘अनेकान्तात्’ वार्तिक न हो। यों तो वार्तिककार के दार्शनिक होने के कारण प्रत्येक अध्याय और प्रत्येक सूत्र की व्याख्यानशैली में दार्शनिक दृष्टिकोण के दर्शन होते ही हैं किन्तु प्रथम और पञ्चम अध्याय का विषय दार्शनिक त्रैत्र से सम्बद्ध होने के कारण उनमें दर्शन-शास्त्र के प्रेमियों के लिये पर्याप्त सामग्री भरी हुई है। शेष अध्यायों का विषय आगमिक है और जैनसिद्धान्तों के जिज्ञासु इस एक ग्रन्थ के आलोड़न से ही बहुत से शास्त्रों का रहस्य जान सकते हैं। तथा उन्हें इसमें कुछ ऐसी बातें भी मिलेंगी जो उपलब्धवासाहित्य में अन्यत्र नहीं मिलतीं।

प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में सांख्य वैशेषिक और बौद्धों के मोक्ष का विवेचन, छठे सूत्र की व्याख्या में सप्तमंगी का निरूपण, १५ वें से १३ वें सूत्र तक ज्ञानविषयक विविधविषयों की आलोचना, और अनित्ससूत्र की व्याख्या में त्रिजुसूत्र का विषयनिरूपण, द्वितीय अध्यायके ८ वें सूत्र की व्याख्या में आत्मनिषेधक अतुमानों का निराकरण, चतुर्थ अध्यायके अन्त में अनेकान्तवाद के स्थानन्तरक नयसप्तमंगी और प्रमाणसप्तमंगी का विवेचन, पांचवें अध्याय के २ रे सूक्ष्मी व्याख्या में वैशेषिक के ‘द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यम्’ इस सिद्धान्त की आलोचना, ७ वें की व्याख्या में वैशेषिकदर्शन के ‘आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म’ (५-१-१) की आलोचना, ८ वें की व्याख्या में अमूर्तिक द्रव्यों का सप्रदेशत्वसाधन, ११ वें की व्याख्या में मन के सम्बन्ध में वैशेषिक बोद्ध और सांख्य के विविध दृष्टिकोणों की आलोचना, २२ वें की व्याख्या में अपरिणामविद्यों के द्वारा वस्तु के परिणामित्व पर आपादित दोषों का निराकरण, व्यासभाष्य के परिणाम के लक्षण की आलोचना तथा क्रिया को ही काल माननेवालों का खण्डन, २४ वें की व्याख्या में स्फोटवादिका निराकरण, आदि विषय दर्शन-शास्त्र के प्रेमियों के लिये बहुत महत्वपूर्ण हैं। तथा जैनसिद्धान्त के प्रेमियों के लिये १७ वें सूत्र की व्याख्या में अजीवादितत्वों के साथ निर्देश, स्वामित्व आदि की योजना, १-२० की व्याख्या में द्वादशाङ्क के विषयों का संक्षिप्त परिचय, १-२१, २२ की व्याख्या में अवधिज्ञान का विषय, २-७ की व्याख्या में सात्रिपातिकभावों की चर्चा, २-१९ की व्याख्या में शरीरों का कुलनात्मक विवेचन, तीसरे अध्याय की व्याख्या में अधोलोक और मध्यलोक का विस्तृत वर्णन, ४-१९ की व्याख्या में स्वर्गलोक का पूरा विवेचन, पांचवें अध्याय की व्याख्या में जैनों के पृष्ठद्रव्यवाद का निरूपण, छठे अध्याय की व्याख्या में विभिन्न कागों के करने से विभिन्न कर्मों के आस्त्र का प्रतिपादन, सातवें अध्याय की व्याख्या में जैनगृहस्थ का आचार, आठवें में जैनों का कर्मसिद्धान्त, नवें में जैनमुनि का आचार और ध्यान का स्वरूप तथा दृश्यों में मोक्ष का विवेचन अवलोकनीय है।

अन्यभूतों की विवेचना में जिन ग्रन्थों से उद्धरण आदि लिये गये हैं उनमें पतञ्जलि का महाभाष्य, वैशेषिकसूत्र, न्यायसूत्र, व्यासभाष्य, वसुन्धु का अभियर्थकोश, दिङ्गनाग का प्रमाणसपुत्र, भर्तुहरि का वाक्यपदीय और बौद्धों के शास्त्रिसंबुद्ध का नाम उल्लेखनीय है। जैनाचार्यों में स्वामी समन्तभद्र के युक्तेनुसासन और सिद्धसेन की द्वात्रिंशतिका से एक एक पद उद्भृत किया है। श्वेताम्बरसम्मत सूत्रपाठ का जगह जगह निराकरण किया है।

**अष्टशती—**स्वामी समन्तभद्र के आप्तमीमांसानामक प्रकरण का यह भाष्य है। इसका परिमाण आठसौ श्लोकप्रमाण होने के कारण इसे अष्टशती कहते हैं। यह नाम अष्टशती में तो नहीं पाया जाता, किन्तु आप्तमीमांसा और अष्टशती के व्याख्याकार स्वामी विद्यानन्द ने अपनी अष्टसहस्री में इसी नाम से अभिहित किया है। इसके आदिमङ्गल तथा अन्तमङ्गल में अकलङ्क शब्द आता है तथा अष्टसहस्रीकार विद्यानन्द तथा उसके दिप्पणकार लघु-समन्तभद्र इसे अकलङ्करचित् घोषित करते हैं अतः इसके अकलङ्करचित् होने में कोई वाधा नहीं है। एक तो अकलङ्क का साहित्य वैसे ही गहन है उसमें भी उनकी यह कृति विशेषग्रहन है। यदि स्वामी विद्यानन्द इस पर अपनी अष्टसहस्री न रचते तो इसका रहस्य इसी में छिपा रह जाता। गहनता, संक्षिप्तता और अर्थगामीर्थ में इसकी समता करने के योग्य कोई प्रन्थ दार्शनिकक्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। आगे और पीछे की बहुत सी बातें सोचकर सूत्रलूप में एक गृह पंक्ति लिखदेना अकलङ्क की शैली की विशेषता है और वह विशेषता इस प्रन्थ में खूब परिस्फुट हुई है। इतना सब कुछ होने पर भी भाषा बड़ी सरस और रुचिकर है। उदाहरण के लिये आदि मंगल को ही ले लीजिये—

“उद्दीपीकृतधर्मतीर्थमचलज्योतिर्ज्वलकेवला—

लोकालोकितलोकलोकमस्तिलैरिन्द्रादिमिर्वन्दितम् ।

वन्दित्वा परमार्हतां समुदयं गं सप्तभज्ञीविधि-

स्याद्वादामृतगर्भिणी प्रतिहैकांतान्धकारोदयाम् ॥ १ ॥”

मूल प्रकरण में आप की मीमांसा करते हुए उसके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों की अकाल्यता और युक्तिसंगतता को ही आप्तव का आधार माना है। संसार के समस्त दर्शन दो बादों में विभाजित हैं एक अनेकान्तवाद और दूसरा एकान्तवाद। जैनर्द्धन अनेकान्तवादी है और और शेष एकान्तवादी, अतः आप्तमीमांसाकार ने अनेकान्तवादी वक्ता को आप और एकान्तवादी को अनास बतलाते हुए सदेकान्त, असदेकान्त, भेदेकान्त, अभेदेकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, अपेक्षैकान्त, अनपेक्षैकान्त, युक्त्यैकान्त, आगमैकान्त, अतरंगार्थैकान्त, बहिरंगार्थैकान्त, दैवैकान्त, पौरुषैकान्त, आदि एकान्तवादों की आलोचना करके अनेकान्त का व्यवस्थापन किया है। तथा अन्तमें प्रमाण, फल, स्याद्वाद और नय की चर्चा की है। अष्टशती में इन सब विषयों पर तो प्रकाश डाला ही गया है साथ में कुछ आतुष्ठानिक विषय भी प्रकारान्तर से ले लिये गये हैं। और इस तरह उन विषयों पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है जिन्हें मूलकार ने या तो छोड़ दिया था या जो उनके समय में प्रचलित नहीं हुए थे। सर्वज्ञ की चर्चा में सर्वज्ञसामान्य में विवादी मीमांसक और चार्वाक के साथ साथ सर्वज्ञविशेष में विवादी बौद्ध आदि की भी आलोचना की गई है और सर्वज्ञसाधक अनुमान का समर्थन करते हुए उन पक्षदोषों और हेतुदोषों का उद्भावन करके खण्डन किया गया है जो दिङ्गनाग आदि बौद्ध नैया-

१ “द्वितिकारास्तु अकलङ्कदेवा एवमाचक्षते छापिलं प्रति ।” अष्टशत् ४० १०१

“जीयात्यनन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः ।

स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलङ्को मर्दद्विकः ॥ ॥”

नगर ताल्खका (शिमोगा) के ४६ वें शिलालेख में ।

यिकों ने माने हैं। ६ वीं कारिका की वृत्ति में विवा इच्छा के भी बचन की उत्पत्ति सिद्ध की गई है और बौद्धों को व्यासिप्राहक तर्कप्रमाण मानने के लिये लाचार किया गया है। ७ वीं कारिका की वृत्ति में धर्मकीर्ति के निप्रहस्थान के लक्षण की आलोचना की है। १३ वीं कारिका की व्याख्या में स्वलक्षण को अनिर्णय माननेवाले बौद्धों के मत की विस्तार से आलोचना करके स्वलक्षण को भी कथंचित् अभिलाष्य सिद्ध किया है। सप्तमंगी का विवेचन करते हुए स्वामी समन्तभद्र ने केवल आदि के चार भंगों का ही उपयोग किया था किन्तु अकलङ्करेव ने वैदिकदर्शनों के सामान्यवाद को सद्वक्तव्य और बौद्धों के अन्यायोहवाद को असद्वक्तव्य बतलाकर शेष भंगों का भी उपयोग कर दिया है। ३६ वीं कारिका की वृत्ति में अनधिगतार्थप्राही अविसंबादी ज्ञान को प्रमाण बतलाया है। ५२ वीं कारिका की वृत्ति में बौद्धों के निर्वाण का लक्षण 'सन्तान का समूल नाश' किया है तथा सम्यक्त्व, संज्ञा, संज्ञि, वाक्याकर्म, अन्तर्व्यायाम, अजीव, स्मृति और समाधि ये आठ अंग उसके हेतु बतलाये हैं। ९९ वीं कारिका की व्याख्या में ईश्वर के सृष्टिकर्त्तव्यवाद की आलोचना की है। का० १०१ में प्रमाणों की चर्चा करके सर्वज्ञ के ज्ञान दर्शन की युगपत् प्रवृत्ति सिद्ध की है।

का० २ की वृत्ति में पूरणकाशयप का नाम दिया है जो भगवान् महावीर के समय में प्रमाणवाली प्रतिद्वन्द्यों में से था। का० ५२ की वृत्ति में 'न तस्य किञ्चिद्भवति न भवत्येव कैवलम्' यह पद प्रमाणवार्तिक से लिया है। का० ७६ में 'युक्त्या यन्म घटायुपैति तदहृष्टाऽपि न श्रद्धे' ( ) उद्भूत किया है। ७८ में पिटकत्रय को उदाहरण रूप में दिया है। ८० में 'सहोपलमनियमादभेदो नीलतवद्योः' ( प्रमाणविनिश्चय ) उद्भूत किया है। ८९ में 'तादृशी जायते बुद्धिर्वसायात् तादृशः। सहायास्तादृशः सनित यादृशी भवितव्यता।' उद्भूत किया है। १०६ को वृत्ति में 'तथाचोक्तम्' करके निम्नलिखित श्लोक उद्भूत किया है—

“अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशीः।  
नयो धर्मन्तरापेक्षी दर्णयस्तचिराकृतिः॥”

इसके सिवा तत्त्वार्थसूत्र से भी एक दो सूत्र उद्भूत किये हैं।

लघीयस्थ्य—इस प्रन्थ का परिचय वौरह प्रारम्भ में दिया गया है। इसकी शैली तथा अन्तिम पर्याँ में आये 'अकलङ्क' शब्द से इसके अकलङ्करचित होने में कोई विवाद् शेष नहीं रह जाता। तथा उस पर न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता और तात्पर्यवृत्ति के रचयिता, दोनों उसे अकलङ्करचित बतलाते हैं। तथा आचार्य विद्यानन्द ने इसकी तीसरी कारिका को 'तदुक्तम्-कलङ्कवैः' करके अपनी 'प्रमाणवरीक्षा' में उद्भूत किया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर इस प्रन्थ को अकलङ्करचित ही मानना चाहिये।

स्वोपज्ञविवृति—लघीयस्थ्यप्रन्थ की विवृति भी अकलङ्करचित ही कही जाती है। प्रभाचन्द्र ने मूल और विवृति के आधार पर ही अपने न्यायकुमुदचन्द्र प्रन्थ की रचना की है। इसकी शैली अष्टशती से मिलती है और परिमाण भी करीब करीब उतना ही है। यद्यपि इन सब बातों से ही यह विवृति अकलङ्करचित प्रतीत होती है। किन्तु इसके समर्थन में एक और भी प्रबल प्रमाण मिलता है। सिद्धिविनिश्चय दीका में 'उक्तं लघीयस्थ्ये' करके 'प्रमाणकलयोः

क्रमभागेऽपि तादात्म्यं प्रत्येयम्' यह वाक्य उद्धृत किया है। जो उसकी छठी कारिका की विवृति का अन्तिम वाक्य है।

**न्यायविनिश्चय**—न्यायविनिश्चयविवरण के नाम से बादिराजरचित इसकी एक वृहत् टीका कुछ भण्डारों में मिलती है। अभी तक यह ग्रन्थ विश्वकलितरूप से इस टीका में ही पाया जाता था। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने वडे परिश्रम से उस पर से इस ग्रन्थ का उदाहरण करके उसे क्रमबद्ध किया है। न्यायकुमुदचन्द्र के संपादन में इसका उपयोग करने के लिये हमने भी टीका पर से इस ग्रन्थ का सङ्कलन करके मुख्तार सा० की प्रति के आधार पर ही उसे क्रमबद्ध और पूर्ण किया था। किन्तु अभी इसके अविकल होने में सन्देह है, कारण यह है कि मुख्तार सा० के संप्रह में कई कारिकाएँ ऐसी हैं, जो मूल की प्रतीत नहीं होती तथा खोजने पर कुछ नवीन किन्तु सनिदिष्ट कारिकाओं का भी पता चलता है।

इसमें तीन प्रस्ताव हैं—प्रत्यक्षप्रस्ताव, अनुमानप्रस्ताव और आगमप्रस्ताव। प्रथम प्रस्ताव के अन्त में एक, दूसरे के अन्त में दो और तीसरे के अन्त में तीन पद्य हैं। लघीयस्थय की तरह मंगलाचरण के बाद इसमें भी एक पद्य आता है, जिसमें 'न्यायो विनिश्चीयते' के द्वारा ग्रन्थ का नाम और उद्देश्य दोनों बतलाये गये हैं। शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ कारिकाओं में निचले हैं। चर्तमान संग्रह के अनुसार कारिका और पद्यों की संख्या मिलाकर पहले प्रस्ताव में १६९ दूसरे में २१६ और तीसरे में ९४ है। मङ्गलाचरण और उद्देश्यनिर्देश के पश्चात् प्रत्यक्ष के लक्षण से ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। लघीयस्थय तथा प्रमाणसंग्रह में दत्त प्रत्यक्ष की परिभाषाओं की अपेक्षा इसमें दत्त परिभाषा में कई विशेषताएँ हैं। प्रथम तो इसमें लक्षण का क्रम ऐसा रखा गया है कि उसमें प्रत्यक्ष का विषय भी बतला दिया गया है। किन्तु यह विशेषता तो साधारण है। दूसरी और ध्यान देने योग्य विशेषता है लक्षण में 'साकार' और 'अज्जसा' पदों का बढ़ाया जाना तथा विषय में 'द्रव्य' और 'पर्याय' के साथ साथ 'सामान्य' और 'विशेष' पदों का भी प्रयोग करना। 'साकार' और 'अज्जसा' पदों की सार्थकता अथवा आवश्यकता का निर्देश तो मूल ग्रन्थ में नहीं किया गया किन्तु अर्थ, द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष का विवेचन विस्तार से किया है। प्रथम प्रस्ताव में ज्ञान को अर्थमाही सिद्ध करते हुए बौद्धभिमत विकल्प के लक्षण, तदाकारता, विज्ञानवाद, नैरात्म्यवाद, परमाणुवाद आदि की विस्तार से आलोचना की है और ज्ञान को स्वसंबंदी तथा निराकार सिद्ध किया है। द्रव्य और पर्याय की चर्चा करते हुए एक और पर्याय में भेदभाव बतलाकर उत्पाद, व्यय और ब्रौद्य का निरूपण किया है। सामान्य और विशेष की चर्चा करते हुए यौगों और बौद्धों के दृष्टिकोणों की आलोचना की है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की परिभाषा में दत्त पदों के आधार पर विविध विषयों का विवेचन करने के बाद बौद्ध के इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष का, तथा सांख्य और नैयायिक के प्रत्यक्ष का खण्डन किया है। अन्त में अतीन्द्रियप्रत्यक्ष के लक्षण के साथ पहला प्रस्ताव समाप्त हो जाता है।

दूसरे प्रस्ताव में अनुमान, साध्य, साधन, हेत्वाभास, प्रत्यभिज्ञा, 'तर्क, जाति, बाद आदि का सुन्दर विवेचन है। तथा प्रसङ्गवश शब्द की अर्थाभियेता, सङ्केतित शब्द की प्रवृत्ति का प्रकार, जीव का स्वरूप, चैतन्य के सम्बन्ध में चार्चाक आदि के मत का खण्डन, वैरोधिक

के 'अगुणवान् गुणः' की आलोचना, नैयायिक के पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोहष्ट और संख्य के बीत, अवीत और बीतावीत हेतुओं की समालोचना आदि, विषयों पर भी प्रकाश ढाला है।

तीसरे में आगम, मोक्ष और सर्वद्वा का विवेचन करते हुए बुद्ध के करुणावत् सर्व-ज्ञत्व चतुरार्थसत्त्व आदि का खूब उपहास किया है तथा वेदों के अपौरुषेयत्व और संख्य के मोक्ष की भी आलोचना की है। अन्त में सप्तर्णी का विवेचन करके ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रमाण की चर्चा का उपसंहार करते हुए ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। अकलङ्क के उपलब्ध साहित्य में यह ग्रन्थ विशेष महत्त्व रखता है। इसमें अपने विषय का स्वास्कर अनुमान-प्रमाण का साझोपाज़ वर्णन है। इसकी परिभासाओं का उत्तरकालीन ग्रन्थकारों ने विशेष अनुसरण किया है। विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थों में इससे अनेक पद्य उद्धृत किये हैं और अपने श्लोकवाचार्कि के मूल में इसकी कई कारिकाएँ ज्यों की तर्फ सम्मिलित करली हैं। अकलंकदेव को भी यह ग्रन्थ विशेष प्रिय जान पड़ता है क्यों कि अष्टशती में इसकी दो एक 'कारिकाएँ गद्य रूप में मिलती हैं, तथा प्रमाणसंग्रह का कलेवर तो इसकी कारिकाओं से ही पुष्ट किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अष्टशती प्रमाणसंग्रह और संख्यतः सिद्धिविनिश्चय से भी पहिले इस प्रन्थ का निर्माण हुआ है। सिद्धसेन के न्यायावतार के बाद न्यायविषय का यही एक प्रन्थ उपलब्ध है, और इसी के आधार पर उत्तरकालीन जैनन्याय-विषयक साहित्य का सर्जन हुआ है।

यद्यपि सन्धियों में इसे स्थाद्वादिविद्यापतिरचित बतलाया है किन्तु दीकाकार वादिराज इसे अकलङ्करचित लिखते हैं। तथा अन्तिम पदों में अकलंक पद आता है। शैली वौरह भी अकलंकदेव के अन्य ग्रन्थों से मिलती हुई है। तथा 'तदुक्तमकलंकदेवैः' करके स्वामी विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा में इसको एक कारिका भी उद्घृत की है। अतः इसके अकलंक-रचित होने में किंतु प्रकार के सन्देह को स्थान नहीं है।

**न्यायविनिश्चयवृत्ति—**अकलंकदेव ने प्रायः अपने सभी प्रकरणों पर छोटी सी वृत्ति भी लिखी है। न्यायविनिश्चय की वृत्ति अभी तक उपलब्ध तो नहीं हो सकी है, किन्तु कुछ प्रमाणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि लघीयस्थय और सिद्धिविनिश्चय की तरह अकलंकदेव ने उस पर भी वृत्ति लिखी थी। तथा जब लघीयस्थय जैसे लघुप्रकरणों पर वृत्ति लिखी जा सकती है तब न्यायविनिश्चय सरीखे महत्वपूर्ण वृहत् ग्रन्थ को यों ही नहीं छोड़ा जा सकता।

**न्यायविनिश्चय की वादिराजरचित एक स्थूलकाय दीका का निर्देश** हम ऊपर कर आये हैं। उस दीका में प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याख्या करते हुए दीकाकार ने प्रत्यक्ष के तीन भेद बतलाये हैं। उस पर शंकासमाधान करते हुए लिखा है—“कथं पुनः कारिकायामनुकूलै त्रैविध्यमवगम्यते ? प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा” इति शास्त्रान्तरे प्रतिपादनात्। ननु प्रत्यक्षलक्षण-स्थापि तत्रैव प्रतिपादनात् इहावचनप्रसङ्गं इति चेत्, इहापि वृत्तिकारेण त्रैविध्यमुक्तमेव !”

शंका—कारिका में तो प्रत्यक्ष के तीन भेद नहीं बतलाये, तब आप कैसे कहते हैं कि प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं ?

**उत्तर—**शास्त्रान्तर में ( प्रमाणसंग्रह में ) ‘प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा’ ऐसा लिखकर प्रत्यक्ष के तीन भेद किये हैं।

शंका—प्रत्यक्ष का लक्षण भी शास्त्रान्तर में बतला ही आये हैं। तब यहाँ बतलाने की क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—यहाँ भी ( न्यायविनिश्चय में ) वृत्तिकार ने तीन भेद किये हैं।

इस शंकासमाधान से प्रमाणित होता है कि न्यायविनिश्चय पर भी एक वृत्ति लिखी गई थी।

टीकाकार ने किसी किसी स्थल पर कुछ वार्तिकों को संप्रहश्लोक और कुछ को अन्तरश्लोक लिखा है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—“निराकारेतरस्य” इत्यादयोऽन्तरश्लोका वृत्तिमध्यवर्तित्वात्। ‘विमुख’ इत्यादिवार्तिकव्याख्यानवृत्तिप्रन्थमध्यवर्तिनः खल्वमी श्लोकाः। वृत्तिचूर्णितां? तु विस्तारभावान्नामभिर्व्याख्यानमुपदर्शयते। संग्रहश्लोकास्तु वृत्तिप्रदीर्घतास्य वार्तिकार्थस्य संप्रहपरा इति विशेषः।” ( पृ० १२० )

अर्थात् ‘निराकारेतरस्य’ इत्यादि श्लोक ‘विमुख’ इत्यादि वार्तिक के व्याख्यानस्वरूप वृत्ति के अन्तर्गत हैं; अतः वे अन्तरश्लोक हैं। विस्तार के भय से वृत्ति के चूर्णिभाग ( सम्भवतः गद्य भाग ) का व्याख्यान हमने नहीं किया है। जिन श्लोकों में वृत्ति में बतलाये गये वार्तिक के अर्थ को संगृहीत कर दिया जाता है, उन्हें संप्रहश्लोक कहते हैं। अन्तरश्लोक और संग्रहश्लोक में यही भेद है।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि टीकाकार के सामने वृत्तिप्रन्थ मौजूद था और उसमें गद्य और पद्य दोनों थे। विस्तार के भय से उन्होंने गद्यभाग को तो छोड़ दिया किन्तु पद्यभाग को अपने व्याख्यान में सम्मिलित कर लिया। अनन्तवीर्य के एक उद्धरण से भी न्यायविनिश्चय की वृत्ति के अस्तित्व का पता लगता है। उन्होंने ‘तदुक्तं न्यायविनिश्चये’ करके एक वाक्य उद्धृत किया है। ‘तदुक्तं न्यायविनिश्चयवृत्तौ’ न लिखकर ‘तदुक्तं न्यायविनिश्चये’ लिखने से शायद पाठक यह कल्पना करें कि वह वाक्य वृत्ति का न होकर मूलप्रन्थ का ही अंश है। किन्तु अनन्तवीर्य के लघीयस्त्रयविषयक एक उद्धरण से, जिसका उल्लेख लघीयस्त्रय के परिचय में हम कर आये हैं, इस प्रकार की कल्पना को जन्म देने के लिये स्थान नहीं रह जाता। अनन्तवीर्य ने ‘तदुक्तं लघीयस्त्रये’ करके भी एक वाक्य उद्धृत किया है और वह वाक्य लघीयस्त्रय की विवृति में मौजूद है। वास्तव में अनन्तवीर्य की दृष्टि में मूल और वृत्ति ये दो पृथक् पृथक् वस्तुएं न थीं। वे दोनों को ही मूल और एक प्रन्थ मानते थे। इसी से उन्होंने अपनी टीका में सिद्धिविनिश्चय और उसकी वृत्ति दोनों का व्याख्यान करके भी ग्रन्थ का नाम केवल ‘सिद्धिविनिश्चय टीका’ ही रखा है। उन्होंका अनुसरण करते हुए प्रभाचन्द्र भी अपने न्यायकुमुदचन्द्र को ‘लघीयस्त्रयालंकार’ शब्द से ही पुकारते हैं यद्यपि उसमें लघीयस्त्रय और उसकी वृत्ति दोनों का व्याख्यान है। यथार्थ में अकलङ्कदेव की वृत्तियां इतनी महत्वपूर्ण हैं कि उनके निकाल देने पर न केवल अकलङ्क को समझ सकना ही दुष्कर होता है किन्तु उनके द्वारा अपित ज्ञानकोश के बहुत से अमृत्यु रत्नों से भी वंचित होना पड़ता है। उनकी वृत्तियों में ‘मूल’ से भी अधिक पदार्थ भरा हुआ है। न्यायविनिश्चय के विवरणकार ने अपनी टीका में वार्तिकों के जो कई कई अर्थ किये हैं वह क्या उनकी अपनी वृद्धि का चमत्कार है? नहीं, वृत्ति को सहायता पर ही उनका व्याख्यान अवलम्बित है। अतः विनिश्चय की वृत्ति के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

**सिद्धिविनिश्चय—कच्छवेश के 'कोडाय' भाग के श्वेताभर ज्ञानभण्डार से 'सिद्धिविनिश्चयटीका'** की उपलब्धि हुई थी। वहां से यह प्रन्थ अहमदाबाद लाया गया और गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर में उसकी कापी कराई गई। इस टीका में मूल भाग बहुत ही कम है। मूल के कैवल आद्य अक्षरों का ही उल्लेख करके टीका लिखी गई है। इसमें मूल का उल्लेख दो प्रकार से पाया जाता है, एक तो 'अन्नाह' करके कारिकारूप से और दूसरे 'कारिकाव्याख्यातुमाह' करके कारिका के व्याख्यारूप से। इससे पता चलता है कि यह टीका सिद्धिविनिश्चयमूल और उसकी स्वोपनाविवृति को लेकर बनाई गई है। विज्ञानन्द की आषसहस्री और प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र में उनका मूल अन्तर्निहित है और प्रयत्न करने पर उनमें से पूरा पूरा पृथक किया जा सकता है, किन्तु सिद्धिविनिश्चयटीका में यह बात नहीं है जैसा कि हम लिख आये हैं। कहीं कहीं तो 'कारिकायाः सुप्रामत्वात् व्याख्यानमकृत्वा' लिखकर कारिका की कारिका ही छोड़ दी गई है। टीकाके प्रारम्भिक श्लोकों में एक श्लोक निम्न प्रकार है—

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः ।

न जानते ऽकलङ्घस्य चित्रमतेदं परं सुवि ॥

इससे पता चलता है कि मूल प्रन्थ अकलङ्घव का ही बनाया हुआ है। तथा 'तदाह अकलङ्घः सिद्धिविनिश्चये' लिखकर वादिदेवसुरि ने स्याद्वादरत्राकर में एक वाक्य उद्घाट किया है, उससे भी उक्त बात का समर्थन होता है। अकलङ्घ के अन्य प्रकरणों की तरह इसमें भी नमस्कार के बाद एक पद्य आता है जिसमें कण्ठशुद्धिपूर्वक प्रन्थ का नामनिर्देश किया है। इसका विनिश्चयान्त नाम भी धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय का स्मरण करता है। इसमें १२ प्रस्ताव हैं, प्रत्येक प्रस्ताव में एक एक विषय की सिद्धि की गई है। संक्षिप्त परिचय निम्नप्रकार है—

१ प्रत्यक्षसिद्धि—में प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि है। इसमें सुख्यतः धर्मकीर्तिकृत प्रत्यक्ष के लक्षण का तथा सूचनरूप से सत्रिकर्ष का खण्डन करके "इदं स्पष्टं स्वार्थसत्रिधानान्वयव्यतिरेकातुविधाय प्रतिसंख्यानिरोधविसंबादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम्" प्रत्यक्ष का यह लक्षण स्थापित किया है। मुख्यतया बौद्ध का खण्डन होने से तसम्भव प्रत्यक्षग्राह क्षणिकप्रमाणरूप स्वलक्षण अर्थ का निरास करके स्थिर स्थूलरूप अर्थ की भी सिद्धि की गई है।

२ सविकल्पकसिद्धि—में प्रत्यक्ष के अवग्रहादि चार भेदों में प्रमाणफलभाव बताकर सभी ज्ञानों को सविकल्पक सिद्ध किया है। प्रसंगतः "तु द्विष्पूर्वं क्रिया हृष्टा स्वदेहेऽन्यत्र तदग्रहात्। ज्ञायते तु द्विरन्यत्र अध्रान्तैः पुरुषैः क्वचित् ।" इस कारिका में धर्मकीर्तिकृत सत्त्वानान्तरसिद्धि में बताई गई युक्ति को क्षणिकैकान्त में असंभव बताकर अनेकान्तवाद में उसे संभव बताया है।

३ प्रमाणान्तरसिद्धि—में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को पृथक् प्रमाणय सिद्धकरके चारोंकावि की प्रमाणसंख्या का विघटन किया है। बौद्ध की सत्रवहेतु की व्याप्ति का खण्डन करके अर्थक्रियाकारित्व को नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्त में असंभव बताया है और उत्पादादित्रयात्मक अर्थ की विस्तार से सिद्धि की है।

४ जीवसिद्धि—में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय बताकर, ज्ञानक्षणों के सर्वैषा क्षणिकत्व का निरास करते हुए उनमें अन्वितरूप से रहने वाले जीवतत्त्व की विस्तार से

१ इस प्रन्थ की उपलब्धि का इतिहास जानने के लिये देखो—अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १३६।

सिद्धि की हैं। तथा, 'ज्ञान अचेतन प्रधान का धर्म है, अदृष्ट आत्मा का गुण है,' आदि बातों का निराकरण करके आत्मा की विकारपरिणति को ही कर्मबन्ध का कारण बतलाया है।

५ जल्पसिद्धि—में स्वप्नशिद्धि-असिद्धिनिवन्धन जयपराजयव्यवस्था का स्थापन करके धर्मकीर्ति द्वारा बादन्याय में स्थापित असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्घावन नाम के निप्रहस्थानों की विविध व्याख्याओं का निर्देश करके खण्डन किया है। नैगायिकसम्मत छत, जाति आदि को अनुपादेय बतलाया है। बाद, जल्प और वितण्डा में बाद और जल्प को एक बतलाकर वितण्डा को कथाभास बतलाया है। प्रसङ्गवश वचन के विवक्षामात्रसूचकत्व और अन्यापोह-मात्राभिधायित्व का निरास करके उसे वास्तविक अर्थ का बाचक सिद्ध किया है।

६ हेतुलक्षणसिद्धि—में धर्मकीर्तिकृत हेतुविन्दु की प्रथम कारिका—“पञ्चधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः स च त्रिवा। अविनाभावनियमात् हेत्याभासास्ततोऽपरे॥” का विस्तार से खण्डन करके हेतु का लक्षण एक अन्यथानुपत्ति ही सिद्ध किया है। कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि हेतुओं को पृथक् हेतु बतलाया है। अनुपलडिय को विधि और प्रतिषेध-दोनों का साधक बतलाया है। अन्यथानुपलम्भ को भी वस्तुसाधक माना है। धर्मकीर्ति के 'सहो-पलम्भनियमात्' हेतु का विविध विकल्पों द्वारा खण्डन किया है।

७ शास्त्रसिद्धि—में बतलाया है कि स्यादाद्वृष्टि से अनेकान्तात्मक वस्तु का प्रतिपादक ही शास्त्र होता है अतः सुगतादिप्रणीत शास्त्र शास्त्र नहीं है। तथा वचन विवक्षामात्र के सूचक न होकर यथार्थ अर्थ के प्रतिपादक होते हैं अतः सुगतमत में शास्त्र के लक्षण का अभाव बतलाकर देशना का भी अभाव बतलाया है। इसी तरह शरीर आदि से रहित होने के कारण ईश्वर में देशना का अभाव बतलाकर सूचिकृत्व की विस्तार से मीमांसा की है। वेदों के अपौरुषेयत्व का भी खण्डन किया है। सराग भी वीतराग की तरह चेष्टा करते हैं अतः यथार्थ उपदेशा का निर्णय नहीं हो सकता, इस शंका का निरास किया है।

८ सर्वज्ञसिद्धि—में धर्मकीर्तिसम्मत सर्वज्ञ की केवल धर्मज्ञता का निराकरण करके विविध युक्तियों से पूरी सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन किया है। यजोतिर्ज्ञान तथा सत्यस्वप्न के दृष्टान्त का उपयोग भी सर्वज्ञसिद्धि में किया है। कुमारिल द्वारा सर्वज्ञाभाव में दी गई प्रमेयत्व सत्त्व बत्तृत्वादि युक्तियों का तथा तत्त्वसंघ में कुमारिल के नाम से दी गई 'दशाहस्रान्तरं व्योग्नि' इत्यादि कारिका में कही गई युक्तियों का भी निरास भले प्रकार किया है। अन्त में सर्वज्ञत्व-प्राप्ति के कारण तप आदि की भी चर्चा की है।

९ शब्दसिद्धि—में शब्द के आकाशगुणत्व, नित्यत्व, अमूर्तत्व आदि धर्मों का खण्डन करके उसे पौद्धलिक सिद्ध किया है। भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद तथा स्फोटवाद का भी खण्डन किया है। स्वलक्षण में सङ्केत की अशक्यता के कारण बौद्धों के द्वारा मानी गई अवाच्यता का खण्डन करके सङ्केत आदि की सिद्धी की गई है।

१० अर्थनयसिद्धि—में ज्ञाता के अभिप्राय को नय बतलाकर अर्थप्रधान नैगमादि तथा शब्दप्रधान शब्दादि नयों का निर्देश किया है। नैगमादि चार नयों का स्वरूप विस्तार से बतलाकर सांख्यादिकल्पित मतों को नयाभासों में शिनाया है। सुनय और दुर्नय का भी स्वरूप दर्शया है। व्यवहारनयसम्मत व्यवहार को वास्तविक सिद्ध करके ब्रह्माद्वैत आदि अद्वैतवादियों के द्वारा कल्पित व्यवहार का निरास किया है।

११ शब्दनयसिद्धि—में शब्दसिद्धि में व्याकरण की उपयोगिता बतलाकर बौद्ध, नैयायिक और वैयाकरणों के द्वारा अभिमत शब्द के स्वरूप का विचार किया है। शब्दभेद से अर्थभेद मानकर शब्द, समभूलृद्ध और पवभूत नवों का तथा तदाभासों का स्वरूप बताया है।

१२ निजेपसिद्धि—में निजेपसिद्धि के अनन्तभेद होने पर भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से उसके चार प्रकार बताये हैं। नाम के व्यस्त, समस्त, एक, अनेक आदि आठ भेद किये हैं। स्थापना के सदाव और असदाव तथा द्रव्य के आगम और नोआगम भेद किये हैं।

सिद्धसेन गणि की तत्त्वार्थटीका, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमाणमीमांसा और स्याद्वादमञ्जरी में इसकी कारिकाएँ उद्घृत की गई हैं। तत्त्वार्थटीका तथा जिनदास की चूर्णि में इसका नामोल्लेख भी है। चूर्णिकार ने तो इसे जिनशासन का प्रभावक ग्रन्थ माना है।

प्रमाणसंग्रह—प० सुखलालजी के प्रयत्न से पाठन के भण्डार से यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। सिद्धिविनिश्चयटीका में इसका उल्लेख आता है। उसी टीका से यह भी प्रतीत होता है कि आचार्य अनन्तवीर्य ने इस पर भी प्रमाणसंग्रहालङ्घार या प्रमाणसंग्रहमात्र्य नाम की टीका रची है। प्रमाणसंग्रह की रचना संभवतः न्यायविनिश्चय में मौजूद हैं तथा उनके ऊपर अकलंकदेव ने कुछ वृत्ति या उपक्रमसूचक वाक्य नहीं लिखे हैं। यह गदापद्यात्मक है। कहीं कहीं गद्यभाग में पद्य का व्याख्यान भी किया है। किन्तु समस्त गद्य और पद्य का व्याख्यान-व्याख्यात्मक सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। इसका नाम सार्थक है क्योंकि प्रत्येक एकान्त पक्ष के विरुद्ध जिन्हें प्रमाण हो सकते थे, उन सबका संघर्ष इस ग्रन्थ में किया है। इसी लिए इस ग्रन्थ की भाषा और भाव अति दुरवगाह है। अकलंक के उपलब्ध ग्रन्थों में इन्हाँ प्रमेयबुल्ल-प्रमाणों का संग्रह करनेवाला अव्यक्ति कोई ग्रन्थ नहीं है। धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय की रचना की तरह इसकी रचना भी गद्यपद्यात्मक तथा जटिल है। यह ग्रन्थ अकलंक के अन्य ग्रन्थों का परिशिष्ट कहा जा सकता है अतः संभव है कि ये उनके अन्तिमकाल की रचना हो। इसमें ९ प्रस्ताव हैं।

१ प्रस्ताव—में ८॥ कारिकाएँ हैं। विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहकर उसके इन्द्रिय अनिन्द्रिय और अतिनिन्द्रिय रूप से तीन भेद किये हैं। इसके 'त्रिधा श्रुतमवल्लभम्' अंश पर जैनतर्कवार्तिकाकार शान्त्याचार्य ने आज्ञेप किया है। इस प्रस्ताव में प्रत्यक्ष और उसके भेदों की चर्चा है।

२ प्रस्ताव—में ९ कारिकाएँ हैं। परोक्ष प्रमाण के भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को प्रामाण्य सिद्ध करके आगम के बल से परोक्ष पदार्थों के साथ भी अविनाभावसम्बन्ध महण कर सकने का प्रतिपादन किया है।

३ प्रस्ताव—में १० कारिकाएँ हैं। अनुमान प्रमाण तथा उसके अवयव-साध्य साधन आदि का वर्णन है। इसकी २७ वीं कारिका में धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की 'चित्रं तदेक-मिति चेदिदं चित्रतरं ततः' कारिका की समालोचना की गई है।

४ प्रस्ताव—में १२॥ कारिकाएँ हैं। इसमें हेतु के त्रैलज्य का स्वरूपन करके अन्यथा-तुपपन्नत्वरूप एक लक्षण का स्थापन किया है। हेतु के अनेक भेदों का विस्तार से वर्णन करके धर्मकीर्तिसम्मत हेतु के भेदों की संख्या का विघटन किया है।

**५ प्रस्ताव**—में विरुद्धादि हेत्वाभासों का विगतवार निरूपण किया है, तथा विड्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी नामके हेत्वाभास का विरुद्ध में अन्तर्भाव दिखाकर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकानितक हेत्वाभास से अवशिष्ट हेत्वाभासों का अकिञ्चित्कर में अन्तर्भाव दिखाया है। इस प्रस्ताव में १२ कारिकाएँ हैं।

**६ प्रस्ताव**—में १२॥ कारिकाएँ हैं। इसमें वाद का स्वरूप दर्शाया है। जय पराजय व्यवस्था तथा जाति का कथन करके धर्मकीर्ति के द्वारा प्रमाणवार्तिक में दिये गये दोष इधि उद्धृत के अभेदवापत्ति को जात्युत्तर बतलाया है। तथा अनेकान्त में संभवित विरोधादि आठ दोषों का परिहार करके वस्तु को उपादादि रूप सिद्ध किया है।

**७ प्रस्ताव**—में १॥ कारिकाएँ हैं। इसमें आगमप्रमाण का वर्णन है। आगम का प्रतिपादक होने के कारण सर्वज्ञ तथा अतीनिद्रियज्ञान की सिद्धि करते हुए उसमें आपादित दोषों का परिहार किया है। अन्त में, आत्मा कर्ममल से किस प्रकार छूटता है और उसे किस प्रकार संबोहता प्राप्त होती है, इत्यादि वातों का खुलासा किया है।

**८ प्रस्ताव**—में १३ कारिकाएँ हैं। इसमें सप्तभंगी का निरूपण है। तथा नैगमादि सात नयों का भी कथन है। नयों का विशेष स्वरूप जानने के लिये नयचक्र प्रन्थ देखने का निर्देश किया है।

**९ प्रस्ताव**—में २ कारिकाएँ हैं। निर्णेप का निर्देश करके प्रकरण का उपसंहार कर दिया है। इस प्रकार इस अन्थ में लगभग ८९ कारिकाएँ और शेष भाग गद्य में हैं।

इसके छठवें प्रस्ताव में एक वात विशेष मनोरंजक है। बौद्धों ने जैनों के लिये जो अहींक पश्च, अलौकिक, तामस, प्राकृत आदि विशेषण प्रयुक्त किये हैं, उन्हीं के असंगत सिद्धान्तों के द्वारा उन विशेषणों को बौद्धों के ही लिये उपयुक्त बतलाया है। यथा—

शून्यसंवृतिविज्ञानकथा निष्कलदर्शनम् । सञ्चयापोहसन्तानाऽनाश (स) सैते जाय (ज्य) हेतवः॥  
प्रतिज्ञाऽसाधनं यत्तस्थाध्यं तस्यैव निर्णयः । यददृश्यमसंज्ञानं विकमज्जी (ह्री) कलक्षणम्॥  
प्रत्यक्षं निष्कलं शेषं भ्रान्तं सारूप्यकल्पनम् । क्षणस्थानमस्तकार्थमभाष्यं पशुलक्षणम्॥  
प्रेत्यमावात्यो मानमनुमानं मृदादिवत् । शालं सत्यं तपो दानं देवतानित्यलौकिकम्॥  
शब्दः स्वयंभूः सर्वकार्याकार्येष्वतीन्द्रिये । न कथितेततो ज्ञाता तदर्थस्येति तामसम्॥  
पदादिसत्त्वे साधुत्वन्यूनाधिक्यक्रमस्थितिः । प्रकृतार्थविधातेऽपि यथाः प्राकृतलक्षणम्॥

**बृहत्तत्त्व**—इस अन्थ के अस्तित्व की सूचना जैनहितीषी में प्रकाशित ‘श्रीमद्भूताकलंक’ शीर्षक निबन्ध में दी गई थी और कहा गया था कि कोल्हापुर में श्री प० कल्लपा भरमप्पा निटवे के पास लघीयस्थय और बृहत्तत्व दोनों अन्थ मौजूद हैं। इस सूचना के बाद अकलंकदेव के प्रायः सभी परिचयलेखकों ने उसे दोहराया। लघीयस्थय का प्रकाशन हुए वर्षों बीत गये किन्तु बृहत्तत्व के किसी को दर्शन भी न हो सके। प० नाथूरामजी प्रेमी ने निटवे महोदय से इस अन्थ के सम्बन्ध में लिखा पढ़ी की किन्तु उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला शायद निटवे महोदय उसे अपने साथ स्वर्घ में ले गये हों। हमारे मत से तो ‘लघीयस्थय’ नाम ने ही इस ‘बृहत्तत्व’ की कल्पना को जन्म दिया है। किसी ने सोचा होगा कि जब एक लघीयस्थय है तो कोई बृहत्तत्व भी होना ही चाहिये। एक बार अकलंकदेव के ग्रन्थों के बारे में लिखते हुए प०

जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इस वृहत्त्रय की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया था। आपने लिखा था—‘अकलंकदेव के मौलिक ग्रन्थों में लघीयस्थय के अतिरिक्त तीन ग्रन्थ सबसे अधिक महत्व के हैं—सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, और प्रमाणसंग्रह। शायद इन्हीं के संग्रह को वृहत्त्रय कहते हैं।’ मुख्तार साठ की संभावना किसी हद तक टीक हो सकती है, किन्तु लघीयस्थय का परिचय देते हुए हम बतला आये हैं कि इसका नाम लघीयस्थय अवश्य है किन्तु इसे हम तीन स्वतंत्र प्रकरणों का संग्रह नहीं कह सकते, अतः उसके आधार पर उक्त तीनों ग्रन्थों को वृहत्त्रय नाम नहीं दिया जा सकता। हाँ, यह संभव है कि किसी ने लघीयस्थय की अन्तरंग परीक्षा किये विना केवल उसके नाम के आधार पर उक्त तीनों ग्रन्थों को बड़ा होने के कारण वृहत्त्रय नाम दे दिया हो। किन्तु असी तक ‘वृहत्त्रय’ का उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया और हमें यह एक कोरी कल्पना ही प्रतीत होती है। अतः अकलंककृत ग्रन्थावली में से इस नाम को निकाल देना चाहिये।

**न्यायचूलिका**—इसका उल्लेख भी जैनहित्यी के उक्त लेख में ही सर्वप्रथम मिलता है। उसमें लिखा है—“न्यायचूलिका नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है कि वह अकलंकदेव का बनाया हुआ है।” किन्तु न तो लेखक ने ही उसके स्थान का निर्देश किया और न किसी स्थल से हीमें ही इस ग्रन्थ के अस्तित्व का निर्देश मिल सका। अतः जब न्यायचूलिका नाम के किसी ग्रन्थ तक का भी पता नहीं है, तब उसको अकलंकरचित ठहराना निराधार है।

**स्वरूपसम्बोधन**—स्व० डा० विद्याशूषण ने अकलंकरचित ग्रन्थों में इसका निर्देश किया है और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बस्त्रई से प्रकाशित लघीयस्थयादिसंग्रह नामक पुस्तक में अकलंक के नाम से यह प्रकाशित भी हो चुका है। उसकी प्रस्तावना में श्रीयुत प्रेमीजी ने इसे अकलंकरचित बतलाया है। सैमर्माणीतरज्जिणी में इसकी तीसरी कारिका ‘तदुत्तमकलंकदेवैः’ करके उद्घृत की गई है। तथा अकलंक के अन्य ग्रन्थों के साथ स्वरूपसम्बोधन का अध्ययन करने से उसका कहीं कहीं अकलंक के अन्य प्रकरणों से मेल खाता है। यथा—

कर्ता यः कर्मणां भोक्ता तत्कलानां स एव तु ॥ स्व० स०

कर्मणामपि कर्तुञ्यं तत्कलस्यापि वेदकः ॥ न्या० वि०

इसके अतिरिक्त इसमें अनेकान्त की शैली का भी अनुसरण किया गया है। इन सब वारों के आधार पर इसे अकलंकरचित कहा जा सकता है किन्तु इसके विरुद्ध अनेक ठोस प्रमाण हैं जिनके आधार पर इसे अकलंक की रचना नहीं कहा जा सकता।

भण्डारकर प्राच्यविद्यामनिद्र पूना की पत्रिका, जिल्द १३, पृ० ८८ पर स्वरूपसम्बोधन के कर्ता के सम्बन्ध में प्री० १० एन० १० उपाध्ये का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उद्दोने लिखा है कि कोल्हापुर के लक्ष्मीसेनमठ में स्वरूपसम्बोधन की एक कनड़ी टीका मौजूद है। उसमें नवसेन के शिष्य महासेन को उसका कर्ता बतलाया है। तथा नियमसार की संस्कृत टीका में पद्यप्रभमलभारी देव ने ‘उक्तच वर्णवितपार्षिविजयोपार्जितविशालकीर्तिर्भिर्महासेन-पणिददेवैः’ और ‘तथा चोक्तं श्रीमहासेनपणिददेवैः’ करके स्वरूपसम्बोधन की १२ वीं और ४ थीं कारिका उद्घृत की है। उसी लेख के एक मुटनोट में यह भी लिखा है कि पणिदत-

१ अनेकान्त वर्ष १, ए० १३५५, २ हिन्दू ओक दि मिडीवल स्कूल ओफ इण्डियन लॉजिक ए० २६। ३ पृ० ११।

जुगलकिशोरजी ने मूडविदुरे के पहुँचस्ती भण्डार की ग्रन्थसूची देखी थी, उसमें भी स्वरूप-सम्बोधन को महासेन की रचना बतलाया है। तथा उसी सूची में महासेन के एक प्रमाण-निर्णय नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख है। उक्त प्रतियों तथा उद्धरणों के आधार पर यह ग्रन्थ महासेन का सिद्ध होता है। इस तरह हम देखते हैं कि स्वरूपसम्बोधन के रचयिता के बारे में दो परम्पराएँ प्रचलित हैं, एक के अनुसार उसके कर्ता अकलंक हैं और दूसरी के अनुसार नयसेन के शिष्य महासेन। भरतेशवैभव में तत्त्वोपदेशप्रसङ्ग में कुछ जैन ग्रन्थों के नाम दिये हैं। उनमें पद्मनन्दिकृत स्वरूपसम्बोधन का नाम आया है। संभव है कि पद्मनन्द ने भी स्वरूपसम्बोधन के नाम से कोई ग्रन्थ रचा हो। किन्तु पूर्वोक्त दो परम्पराएँ तो एक ही ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रचलित हैं और वोनों ही प्राचीन हैं। शुभचन्द्रकृत पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में लिखा है कि शुभचन्द्र ने स्वरूपसम्बोधन पर एक वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति के अवलोकन से स्वरूपसम्बोधन और उसके कर्ता के सम्बन्ध में वृत्तिकार का मत मात्रम् ही सकता है। किन्तु पता नहीं, यह प्रायः भी है या नहीं। अतः वर्तमान परिस्थिति में हम उसके कर्ता का निश्चय कर सकते हैं में असमर्थ हैं, किन्तु उसकी रचना आदि पर से वह हमें अकलंक की कृति नहीं प्रतीति होती।

**अकलङ्कस्तोत्र—**यह स्तोत्र मुद्रित हो चुका है। इसमें १२ शाहूलविकीडित और ४ स्मरण छन्द हैं। महादेव, शङ्कर, विष्णु, ब्रह्मा, बुद्ध आदि नामधारी देवताओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है उसकी आलोचना करते हुए, निष्कलङ्क, ध्वस्तदोष, वीतराग परमात्मा को ही बुद्ध, वर्ज्ञामान, ब्रह्मा, कैशव, शिव आदि नामों से पुकारते हुए उसी का स्तवन और अन्दन किया गया है, इसी से इस स्तोत्र को अकलङ्कस्तोत्र अर्थात् दोषरहित परमात्मा का स्तवन कहा जाता है। इसके ११ वें और १२ वें पद्य का अन्तिम चरण “नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रसुद्राङ्कितम्” है। इन दोनों पद्यों के प्रारम्भ के तीन चरणों में बतलाया गया है कि संसार पर न तो ब्रह्मा के वेष की छाप है, न शश्मु के, न विष्णु के और न बुद्ध के ही वेष की। और उक्त अन्तिम चरण में कहा गया है कि हे वादियों देखो, यह संसार जैनेन्द्रसुद्रा अर्थात् नग्नता की छाप से चिह्नित है (प्रत्येक प्राणी नग्न ही पैदा होता है)।

इन श्लोकों के बाद मल्लिषेणप्रशस्ति का ‘नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा’ आदि श्लोक आता है। इस श्लोक के बाद पुनः पुराना राग अलापा जाता है और शिव के खट्टवांग, मुण्डमाला, भस्म, शूल आदि की चर्चा शुरू हो जाती है। इसके बाद १५ वें और १६ वें पद्यों में अकलङ्क परमात्मा के स्थान में शारार्थी अकलङ्कदेव को प्रशंसा होने लगती है, और इस स्तोत्र की विचित्र रचना को देखकर तारादेवी के साथ साथ बेचारे पाठक को भी सिर धुनना पड़ता है। स्तोत्र को देखकर थोड़ासा भी समझदार मनुष्य बिना किसी सङ्कोच के कह सकता है कि इसका तेरहवां पन्द्रहवां और सोलहवां पद्य प्रसिद्ध है, किसी ने इसे अकलङ्करचित प्रसिद्ध करने की धुन में उन्हें पीछे से जोड़ दिया है। जोडनेवाले ने अपनी दृष्टि में बहुत बुद्धिमानी से काम लिया है क्यों कि ११ वें और १२ वें श्लोकों के, जिसमें वादियों को ललकारा है, बाद ही मल्लिषेण प्रशस्तिवाला १३ वां पंच आता है। मानों, अकलङ्कदेवने किसी राजसम्भा में खड़े होकर स्तोत्र की रचना की है। किन्तु उसके बाद का ‘खट्टवाङ्मैव हस्ते’ आदि श्लोक उसकी

१ अनेनान्त, वर्ष १, पृ० ३३४। २ ‘नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा’ आदि। यह पहले उद्धृत किया जा चुका है।

बुद्धिमानी का रहस्य उद्घाटित कर देता है। तथा अकलङ्कदेव की प्रशंसापरक अनिम दो श्लोके उसके अकलङ्करचित होने की मान्यता का समूल उच्छेद कर देते हैं। किसी किसी का विचार है कि—“मरिलेषणप्रशास्तिवाले पद्य को स्वयं अकलङ्क के द्वारा कहा गया मानने में कोई वाधा नहीं दीखती। शेष अनिम दो पद्यों को अकलङ्क के किसी शिष्य ने रचा होगा, और उनका स्तोत्र के अन्त में होना यही सिद्ध करता है कि स्तोत्र अकलङ्क का रचा हुआ है। कम से कम उस समय और उस व्यक्ति के निकट तो यह अवश्य ही उनकी रचना थी, जिस समय जिस व्यक्ति ने उक्त दो प्रशंसात्मक श्लोक स्तोत्र के अन्त में जोड़े थे।” आदि। अकलङ्कस्तोत्र के अनिम दो पद्य तो अवश्य ही अकलङ्क के किसी भक्तजन के बनाये हुए हैं। हाँ, मरिलेषणप्रशास्ति वाले श्लोक के स्वयं अकलङ्करचित होने में इतिहासज्ञों को विवाद हो सकता है। मरिलेषणप्रशास्ति में यह श्लोक ‘राजन् साहसतुर्ग’ आदि अन्य दो श्लोकों के बाद आता है और उससे ऐसा मालूम होता है कि साहसतुर्ग राजा की सभा में अकलङ्क ने वे श्लोक कहे थे।

इतिहासमेमी पाठोंको समरण होगा कि स्वामी समन्वयभद्र के बारे में भी इसी तरह के कुछ श्लोक सर्वविवित हैं, जिनमें उनके दिविजय तथा किसी राजा की सभा में शास्त्रार्थ का चैलेंज देने का वर्णन उनके मुख से कराया गया है। मरिलेषणप्रशास्ति के अकलङ्कसम्बन्धी प्रारम्भिक दो श्लोक भी उन्हीं श्लोकों की छाया में बनाये जान पड़ते हैं। इसी से अकलङ्क के श्लोक का एक चरण “वकुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदितशेषवाऽत्रो यदि स्यात्।” समन्वयभद्र के श्लोक के एक चरण ‘राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्मन्यवादी’ का बिलकुल प्रतिस्थप जान पड़ता है। तथा अकलङ्क का अपने मुख से राजासाहसुंग की और अपनी प्रशंसा में उस तरह के शब्द निकालना भी संभव प्रतीत नहीं होता। अतः प्रशास्ति में संकलित आरम्भिक दो श्लोक तो बनावटी जान पड़ते हैं किन्तु हिमशीतलवाला श्लोक, जो अकलङ्कस्तोत्र में भी है, अकलङ्करचित हो सकता है क्यों कि उसमें वही कारण्यभाव झलकता है जो न्याय-विनियश्य के द्वितीय पद्य में अঙ्गित है। अतः पूर्वदर्शित विचारों के पूर्वार्थ से सहमत होने में हमें भी कोई वाधा नहीं दीखती किन्तु उस श्लोक के अस्तित्व से स्तोत्र का अकलङ्करचित होना प्रमाणित नहीं होता। क्योंकि स्तवन में उस श्लोक की स्थिति उतनी भी उपयुक्त नहीं है जितनी

१ किंवादो भगवानमेयमहिमा देवोऽकलङ्कः कलौ  
काले यो जनतासु धर्मनिहितो देवोऽकलङ्को जिनः ।

यस्त्वं स्कारविवेकमुद्लहरीजालेऽप्यमेयाकुला

निर्मग्ना तमुतेतरां भगवती तारा शिरःकम्पनम् ॥ १५ ॥

सा तारा खलू देवता भगवतीमन्यापि मन्यामहे

षष्ठ्मासावधिजाज्ञसंख्यभगवद्वाकलङ्कभोः ।

वाक्लोलपरम्पराभेरमते नूनं मनोमजन-

व्यापारं सहतेस्म विमितमतिः सन्ताडितेतस्तः ॥ १६ ॥

२ देवो, जै० सि० भास्कर, भाग ३, पृ० १५५ ।

३ प्रशास्ति के ताने श्लोक ‘शालार्थी अकलङ्क’ नामक स्तम्भ में उद्धृत किये जा चुके हैं।

४ यह श्लोक ‘ग्रन्थकार अकलंक’ शारीरक में उद्धृत है।

कटे वस्त्र में पेवनद (थेगरा) की होती है, वह तो वहाँ जबरन दूसा गया जान पड़ता है, और इस कार्य को करने का सन्देह उन्हीं महात्मा पर किया जा सकता है जिन्होंने स्वरचित या पररचित प्रशंसापरक अन्तिम दो श्लोक जोड़े हैं।

अकलङ्कदेव को शार्दूलविक्रीडित और सग्धरा छन्दों में अपना अभिप्राय प्रकट करना विशेष प्रिय था, अकलङ्क के प्रकरणों के उद्देश्यनिर्देशक और उपसंहारामक पद्यों के देखने से ऐसा प्रतीत होता है। प्रकृत स्तोत्र भी उक्त दो छन्दों में ही रचा गया है। किन्तु उसका विषय अकलङ्क के व्यक्तित्व के बिल्कुल प्रतिकूल है, उसमें उनकी दार्शनिकता की छाया रंचमात्र भी नहीं है। समन्वयभ्र, सिद्धेन, विद्यानन्द आदि दार्शनिकों के स्तोत्रों में गहन तत्त्वचर्चा का निरूपण देखने में आता है, तब अकलङ्क जैसे वामी की लेखनी से इस प्रकार की तात्त्विक-चर्चा से शून्य और अक्रमध्व स्तवन की आशा कैसे की जा सकती है? हम ऊपर लिख आये हैं कि अकलङ्कदेव अपने सभी प्रकरणों के अन्त में किसी न किसी रूप में अपना नाम देते हैं, किन्तु अकलङ्कस्तवन में किसी स्थल पर भी अकलङ्क नाम का निर्देश नहीं है। अतः अकलङ्कस्तवन को प्रसिद्ध अकलङ्करचित तो नहीं माना जा सकता। संभव है अकलङ्क नाम के किसी दूसरे विद्वान ने उसे रचा हो और हिमशीतलवाले श्लोक की उपस्थितिने उसे प्रसिद्ध अकलङ्कदेव रचित होने की जनश्रुति देवी हो।

**अकलङ्कप्रतिष्ठापाठ—**प० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अपनी प्रन्थपरीक्षा के तीसरे भाग में इस प्रतिष्ठापाठ की समीक्षा करके प्रमाणित किया है कि यह प्रतिष्ठापाठ प्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलङ्कदेव की कृति नहीं है किन्तु उनके समानानामा किसी दूसरे पंडित की कृति है। क्यों कि उसमें आदिपुराण, ज्ञानार्णव, एकसंधिसंहिता, सागरधर्मान्वय, आदि ग्रन्थों से बहुत से पद्य दिये गये हैं। उन्होंने इसका रचनाकाल वि० सं० १५०१ और १६६५ के मध्य में प्रमाणित किया है।

**अकलंकप्रायश्चित्त—**यह प्रन्थ इसी प्रन्थमाला के १८वें प्रन्थ में प्रकाशित हो चुका है। इसमें २९ श्लोक और अन्त में एक पद्य है। मंगलाचरण में ‘जिनचन्द्र’ के विशेषणरूप अकलङ्क पद आया है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है इसमें विभिन्न प्रकार के दुर्घटमों का प्रायश्चित्त बतलाया गया है। प्रायश्चित्त में अभिषेक का विधान बहुतायत से किया गया है। इससे यह प्रन्थ भट्टारकयुग की रचना जान पड़ता है। मद्रास से प्रकाशित सूचीपत्र के अनुसार अकलंक नाम के विद्वानों की जो तालिका दी है उसमें भट्टारक अकलंक का उल्लेख है, जिन्हें श्रावकप्रायश्चित्त का रचयिता लिखा है। यह प्रायश्चित्त प्रन्थ वि० सं० १२५६ में रचा गया था। संभवतः यह श्रावकप्रायश्चित्त ही अकलंकप्रायश्चित्त है और भट्टारक अकलंक उसके रचयिता हैं। यदि हमारा अनुमान सत्य है तो इसे विक्रम की १३ वीं शताब्दी की रचना मानना होगा।

प्रमाणरत्नालीप और जैनवर्णश्रम नामक कन्द्र प्रन्थ भी अकलंक की कृतियाँ कही जाती हैं। ये दोनों प्रन्थ भी अकलंक नाम के किसी अन्य प्रन्थकार की रचना प्रतीत होते हैं। कन्द्र प्रन्थ तो संभवतः शब्दानुशासन के रचयिता अकलंक ( १६ वीं शताब्दी ) का होगा। मद्रास के ‘सूचीपत्रों के सूचीपत्र’ में ‘वादसिन्धु’ नामक प्रन्थ को भी अकलंक की कृति लिखा है

तथा लिखा है कि सीतम्बूर तिन्दीवनम् के मठ में 'अकलंकवाद' नामक एक प्रन्थ है, किन्तु इन प्रन्थों को देखे विना इनके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता।

इस विस्तृत चर्चा के आधार पर, वर्तमान में, केवल तत्त्वार्थराजचार्टिक, अष्टशाही, लघीय-ख्य (सविवृति), न्यायविनिश्चय (सविवृति), चिद्भिविनिश्चय (सविवृति) और प्रमाण-संग्रह, ये ६ प्रन्थ ही अकलंकदेवरचित्र प्रमाणित होते हैं। संभव है कुछ अन्य प्रन्थ भी उहोंने रचे हों और वे यदि मुक्तों के आक्रमण से बचे हों तो किसी भण्डाररूपी कारागार में अपने जीवन की शेष घड़ियाँ गिनते हों, किन्तु अकलंकदेव के विशद की सत्यता प्रमाणित करने के लिये उक्त प्रन्थरत्न ही पर्याप्त हैं। उनके अनुशीलन से प्रत्येक विद्वान् इस निर्णय पर पहुंचता है कि उनका रचयिता एक प्रौढ़ विद्वान् और उच्कोटि का प्रन्थकार था।

### अकलंक का व्यक्तित्व

(उनके साहित्य के आधार पर)

किसी ने कहा है और ठीक कहा है कि साहित्य कवि के मनोभावों का न केवल सूर्तिमान् प्रतिविन्द्व है, किन्तु उसकी सजीव आत्मा है। कवि जो कुछ विचारता है और जो कुछ करता है उसकी प्रतिष्ठनि उसके साहित्य में सर्वदा गूँजती रहती है। अतः कवि के व्यक्तित्व का प्रामाणिक परिचय उसके साहित्य से मिलता है।

यद्यपि अकलंकदेव का साहित्य तर्कबहुल और विचारप्रधान है, उसका बहुभाग इतर दर्शनों की समीक्षा से अोत्प्रोत है, तथापि किसी किसी स्थल पर कुछ ऐसी बातें पाई जाती हैं जिनके आधार पर हम उनके व्यक्तित्व को समझने का प्रयत्न कर सकते हैं।

अकलंक के प्रकरणों के अवलोकन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे अस्पमाणी और सतत विचारक थे, और व्यों उनों वे वयक्त होते गये उनके ये गुण भी अधिक अधिक विकसित होते गये। उहोंने जो कुछ लिखा बहुत थोड़े शब्दों में लिखा और खूब मनन कर लेने के बाद लिखा। इसी से उनकी रचना गहन और चिन्तनीय है, खोजने पर भी उसमें एक भी शब्द व्यर्थ नहीं मिल सकता। किन्तु वे शुक्ल दार्शनिक नहीं थे, बल्कि वे देवोदी और परिहास-कुशल व्यक्ति थे। उनके गहन साहित्यकानन में विचरण करते करते जब पाठक कुछ कल्पना सी अनुभव करने लगता है, तब दार्शनिक परिहास की पुष्ट उसकी क्वानित को दूर करके पुनः उसके मरितङ्क को तरोताजा बना देती है।

जिस समय अकलंकदेव ने कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया था वह समय बौद्धयुग का मध्याह्न-काल था। भारत के दार्शनिक धार्मिक राजनैतिक और साहित्यिक आकाश में, सर्वत्र उसकी प्रखरकिरणों का साम्राज्य था, उसके प्रताप से इतर दार्शनिक ब्रह्मत थे। इसी से अकलंक के साहित्य में बुद्ध और उसके मनवयों की आलोचना बहुतायत से पाई जाती है और उनके परिहास का लक्ष्य भी वही है। मध्यकालीन खण्डनमण्डनात्मक साहित्य के देखने से पता चलता है कि उस समय इतर दर्शनों की आलोचना करते करते आलोचक मर्यादा का अतिक्रमण कर जाते थे, और अपने विपक्षी को पश्च तक कह डालने में संकोच न करते थे, किन्तु सदाशय अकलंक के व्यङ्ग-विनोद में हमें उस कहुता के दर्शन नहीं होते। कहीं कहीं वे 'देवानांप्रिय' जैसे शब्दों का प्रयोग श्लेषरूप में करते हैं और कहीं कहीं बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा जैनों के

लिये प्रयुक्त शब्दों को ही उनके लिये प्रयुक्त कर देते हैं, किन्तु अधिकतर वे अपने विपक्षी की किसी दार्शनिक भूल को पकड़कर ही उसका उपहास करते हैं। उनके उपहास के कुछ उदाहरण देखिये—अद्वैतवाद में साध्य और साधन के द्वैत के लिये भी स्थान नहीं है, किन्तु उसके बिना अद्वैतवाद का स्थापन नहीं किया जा सकता, अतः अद्वैतवादी योगाचारसम्प्रदाय का समर्थक धर्मकीर्ति उसे परिकल्पित कहता है। इस पर उपहास करते हुए अकलंक लिखते हैं—

“साध्यसाधनसंकल्पस्तत्त्वतो न निरूपितः ।

परमार्थवताराय कुतश्चित्परिकल्पितः ॥

अनपायीति विद्वत्तामात्मन्याश्चसमानकः ।

केनापि विग्रलव्योजयं हा कष्टमकपालुना ॥” न्या० वि०

“साध्य और साधन का समर्थन तात्त्विक नहीं है, परिकल्पित है। श्रोताओं के हृदय में परमार्थ अद्वैत का अवतार कराने के लिये उसकी कल्पना की गई है, क्योंकि उसके बिना परमार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार अपने बुद्धिकौशल का प्रदर्शन करनेवाला धर्मकीर्ति अवश्य ही किसी तिर्देवी के द्वारा ठागा गया है, हा, कष्ट !!!”

और सुनिये—

धर्मकीर्ति ने अनेकान्तवादियों का उपहास करते हुए लिखा है—एक को अनेक और अनेक को एक कहना बड़ी ही विचित्र बात है। अकलंक उसका प्रत्युपहास करते हुए लिखते हैं—

“चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः ।

चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेति चित्रतरं ततः ॥” न्या० वि०

“निस्सन्देह, एक को अनेक और अनेक को एक कहना एक विचित्र सिद्धान्त है किन्तु दृश्यमान इस विचित्र जगत को शून्य कहना उससे भी बढ़कर विचित्र सिद्धान्त है।” कितना सात्त्विक और युक्तिपूर्ण परिहास है।

निरंशसंवेदनाद्वैतवादी कहते हैं कि हमारा अद्वैत तत्त्व न तो किसी से उत्पन्न होता है और न कुछ करता ही है। इस पर अकलंक कहते हैं—

“न जातो न भवत्येव न च किञ्चित् करोति सद् ।

तीक्ष्णं शौद्धोदते: शून्यमिति किञ्च प्रकल्प्यते ॥” न्या० वि०

“यदि आपका संवेदनाद्वैत न तो कभी उत्पन्न हुआ, न होता है और न कुछ कार्य ही करता है फिर भी वह है अवश्य। तो बुद्ध के मस्तक पर एक ऐसा तीक्ष्ण सींग भी क्यों नहीं मान लेते, जो न तो उत्पन्न होता है और न है।”

संभवतः बौद्ध दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में अपने विपक्षियों के लिये जड़, अहोक, पशु आदि शब्दों का प्रयोग किया है। जैनों के लिये ‘अहोक’ शब्द का प्रयोग तो एक रुद्ध शब्द बन गया है, क्योंकि उनके दिग्म्बर सम्प्रदाय के साथु नग रहते हैं। अकलंकदेव ने इस प्रकार के शब्दों की व्याख्या कुछ दार्शनिक मन्त्रव्यों के आधार पर इस रीति से कों है, कि वे शब्द प्रकारान्तर से उनके प्रवृत्त विपक्षी बौद्ध पर ही लागू हो जाते हैं। जैसे, शून्याद्वैत, संवेदनाद्वैत आदि की कथा, परमाणुसञ्चयवाद, अपोहवाद, सन्तानवाद

आदि सात वार्ते जड़ता के कारण हैं अर्थात् जो उन्हें मानता है वही जड़ है। इसी प्रकार प्रतिज्ञा का साधन न करना आदि तीन वार्तों को 'अहीक' का लक्षण बतलाया है इस नूतन प्रकार से विपक्षी के अपशब्दों का परिहार और आपादन सज्जनोचित रीति से हो जाता है और उससे हम उसके अविष्करण के सौन्ध स्वभाव और चारुर्य का विश्लेषण सरलता से कर सकते हैं।

अकलङ्घदेव बोझों के प्रबल विपक्षी थे और अवसर मिलते ही उन पर वार करने से नहीं चूकते थे। किन्तु किसी व्यक्तिनात्मेष के कारण उनका यह भाव न था, बल्कि सिद्धान्तभेद के कारण था, और सिद्धान्तभेद में भी कदाप्रह कारण न था, किन्तु कारण था उनका परीक्षाप्रधानत्व। आप्तमीमांसा नामक स्तवन की प्रथमकारिका पर अष्टशती भाष्य का निर्माण करते हुए जब वे कहते हैं—“आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशगमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपव्येन् नास्मदादय।” अर्थात् “परमेष्ठों में पाई जाने वाली देवताओं का आगमन, आकाश में गमन आदि वार्तों को आज्ञाप्रधान भक्तजन परमात्मत्व का चिह्न मान सकते हैं किन्तु हमरे जैसे परीक्षाप्रधान व्यक्ति नहीं मान सकते क्योंकि ये वार्ते तो मायाविजनों में भी देखी जाती हैं।” तब उनकी तेजस्विता साकाररूप धारण करके आखों के सामने नर्तन करने लगती है, और पाठक ब्रवस कह उठता है—कितने गजव का व्यक्तित्व है इन पंक्तियों के लेखक का। सचमुच यह एक ही पंक्ति अपने रचयिता के व्यक्तित्व का चित्रण करने के लिये पर्याप्त है, इससे आत्मविद्यास, अप्रमाणित प्रज्ञाशालीनता आदि कितने ही सद्गुणों का व्याख्या होता है। अतः अकलङ्घदेव का सिद्धान्तमूलक मतभेद केवल जन्मागत नहीं था किन्तु उसमें उनका परीक्षाप्रधानत्व भी कारण था। वे बोझ सिद्धान्तों की न्यायसम्मत न होने के साथ ही साथ जनता के लिये कल्याणकारी भी नहीं समझते थे और इसी से उनका प्रसार देखकर दुःखी होते थे। तभी तो न्यायविनिश्चय का प्रारम्भ करते हुए उनका काहण्यभाव जागृत हो उठता है और वे मलिनीकृत न्याय का शोधन करने के लिये उद्यत होते हैं। परीक्षाप्रधान होते हुए भी अकलङ्घदेव में श्रद्धा का अभाव न था, किन्तु इसना अवश्य है कि उनकी श्रद्धा परीक्षामूलक थी। अनेकान्ती होने के कारण वे न केवल हेतुवाद के ही अनुयायी थे और न केवल आज्ञावाद के ही, प्रयुत दोनों का समन्वय ही उनके जीवन का मंत्र था। इसी से वे दोनों को प्रमाण मानते हुए लिखते हैं—“सिद्धे पुनराप्तवने यथा हेतुवादस्तथा आज्ञावादोपि प्रमाणम्।” अर्थात् आज्ञा के सम्बन्ध में यह प्रमाणित हो जाना आवश्यक है कि वह आज्ञा किसी आप्तपुरुष के द्वारा दी गई है। यह प्रमाणित हो जाने पर जैसे हेतुवाद प्रमाण है वैसे ही आज्ञावाद भी प्रमाण है।

इस प्रकार अकलङ्घ के साहित्य के आधार पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की दृष्टक का थेड़ा सा आभास मिलता है और उससे हम उनके जीवन की रूपरेखा का अनुमान करने में समर्थ होते हैं।

### जैनन्याय के प्रस्थापक अकलङ्घ

अकलङ्घ जैनन्याय के प्रस्थापक थे। उनके प्रथात्वर्ती ग्रन्थकारों ने उनके न्याय का ‘आकलङ्घन्याय’ शब्द से उल्लेख किया है और उनके द्वारा निर्वाचित की गई रूपरेखा को दिग्म्बर और श्वेताम्बर, दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने समान रूप से अपनाया है। अकलङ्घ के द्वारा स्थापित की गई रूपरेखा किसनी सुन्यविद्यत और प्रामाणिक थी? इस बात का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उनके उत्तरवर्ती किसी भी मन्थकार ने उसमें परिवर्तन या संबद्धन

करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया और प्रायः सभी ने उनके मन्त्रव्यों को लेकर न्यायशास्त्र के विभिन्न अंगों पर ग्रन्थों की रचना की। यथार्थ में सातवीं शताब्दी के बाद में होने वाले जैन नैयायिकों को उपत्र करने का श्रेय अकलङ्कदेव को ही प्राप्त है। उन्हीं के सत्यम्-यत्र से जैनवाङ्मय के भण्डार में आज न्यायशास्त्रविषयक अमूल्य ग्रन्थरत्नों के दर्शन होते हैं और उनसे न केवल जैनदर्शन का किन्तु भारतीय दर्शनशास्त्र का मस्तक गौरव से उन्नत हो जाता है।

अकलङ्क ने जैनन्याय में किन किन सिद्धान्तों की प्रस्थापना की, यह जानने के लिये अकलङ्क के पूर्ववर्ती जैनन्याय की रूपरेखा का जानलेना आवश्यक है। अतः प्रथम उसी पर प्रकाश डाला जाता है।

### अकलङ्क के पहले जैनन्याय की रूपरेखा

न्यायशास्त्र के इतिहास का परिशीलन करने से पता चलता है कि ईस्थी सन् से पहले न तो न्यायशब्द उस अर्थ में ही प्रचलित था जिसमें आज है, और न उस पर स्वतंत्र अन्य लिखने की ही पद्धति थी। तत्त्वचर्चा और बादविवाद में युक्तियों का उपयोग अवश्य किया जाता था किन्तु युक्तियों पर शास्त्र रचने की आवश्यकता का अनुभव संभवतः किसी ने भी न किया था। इसी से भगवान् महावीर के उपदेश के सारभूत द्वादशाङ्क श्रुत में अनेकान्तदृष्टि का अनुसरण होते हुए भी, उनमें से एक भी श्रुत स्वतंत्ररीति से प्रमाण, नय, स्याद्वाद और सप्तभंगी की चर्चा से सम्बन्ध नहीं रखता था।

प्रथम शताब्दी के विद्वान् आचार्य श्री कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में यद्यपि तर्कपूर्ण दार्शनिक शैली का अवलम्बन लिया गया तथापि उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के सामान्य लक्षण और 'सात भंगों' के परिणाम के सिवाय, उक्तदिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं की गई। किन्तु उनके उत्तराधिकारी आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में 'मतिः स्मृतिःसंज्ञा चिन्ताऽभिनिवोध इत्यनर्थान्तरम्' सूत्र के द्वारा न्यायोपयोगी सामग्री का सङ्केत किया और नयों की भी परिणामा की।

उसके बाद जैन वाङ्मय के नीलान्बन में कालक्रम से दो जाग्वल्यमान नक्षत्रों का उदय हुआ, जिन्होंने अपनी प्रभा से जैनवाङ्मय को आलोकित किया। ये दो नक्षत्र थे स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर। स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे, बाद के कुछ ग्रन्थकारों ने इसी विशेषण से उनका उल्लेख किया है। उन्होंने अपने इष्टदेव की स्तुति के व्याज से एकान्तवादों की आलोचना करके अनेकान्तवाद की स्थापना की, तथा उपेयतत्त्व के साथ ही साथ उपायतत्त्व-आगमवाद और हेतुवाद में अनेकान्त की योजना करके अनेकान्त के ज्ञेत्र को व्यापक बनाया। आगमवाद और हेतुवाद में अनेकान्त की योजना करने से ऐसा प्रतीत होता है कि समन्तभद्र के समय में हेतुवाद आगमवाद से पुथक् होगया था और उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करली थी। इसी से उन्हें आप की आगमसम्मत विशेषताओं में व्यभिचार की गन्ध आई और हेतुवाद के आधार पर आप की मीमांसा करना उचित प्रतीत हुआ। स्वामी समन्तभद्र का सम्पूर्ण विवेचन हेतुप्रक होने पर भी उन्होंने हेतुशास्त्र-युक्तिशास्त्र या न्यायशास्त्र के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा, उनकी लेखनी का केन्द्रविन्दु था केवल अनेकान्तवाद, उसी के स्थापन और विवेचन में उन्होंने अपनी लेखनी को चमकूत कर दिया, इसी से उनके ग्रन्थों

में अनेकान्तवाद के कलितवाद नयवाद और सप्तभंगीवाद का भी निरूपण मिलता है। फिर भी उनकी शैली हेतुवाद के कुछ मन्तव्यों पर प्रकाश डालती है और उत्तरकालीन प्रन्थकारों ने उसके आधार पर कई एक रहस्यों का उद्घाटन करके उन्हें जैनन्याय में स्थान दिया है।

समन्तभद्र ने जैनन्याय को जो कुछ दिया, संचेप में उसकी विगत निम्न प्रकार है—

१ जैनवौङ्मय के जीवन अनेकान्तवाद और सप्तभंगीवाद की रूपरेखा स्थिर करके दर्शन-शास्त्र की प्रत्येकदिशा में उसका व्यावहारिक उपयोग करने की प्रणाली को प्रचलित किया।

२ प्रमाण का दर्शनिक लंक्षण और फल बतलाया।

३ स्वाद्वाद की परिभाषा स्थिर की।

४ श्रुतप्रमोग को स्थाद्वाद और उसके विशेषित अंशों को नय बतलाया।

५ सुनय और दुर्नय की व्यवस्था की।

६ अनेकान्त में अनेकान्त की योजना करने की प्रक्रिया बतलाई।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्र ने स्थाद्वाद, सप्तभंगीवाद, प्रमाण और नय का स्पष्ट विवेचन करके जैनन्याय की नींव रखकरी। जैनसाहित्य में न्यायशब्द का सब से पहले प्रयोग भी इन्हीं के प्रन्थों में देखा जाता है।

स्वामी समन्तभद्र के पश्चात् जैन साहित्य के क्षितिज पर दूसरे नक्षत्र का उदय हुआ। यह नक्षत्र थे सिद्धसेन दिवाकर, जो न्याय के लिये तो सचमुच दिवाकर ही थे। इन्होंने सम्मति-तर्क नामक प्रकरण में नयों का बहुत विशद और मौलिक विवेचन किया और कथन करने की प्रत्येक प्रक्रिया को नय बतलाकर विभिन्नतयों में विभिन्न दर्शनों का अन्तर्भाव करने की प्रक्रिया को जन्म दिया। इनके समय में बौद्ध दर्शनिकों में न्यायशास्त्र के विविध अंगों पर प्रकरण रचने की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी। संभवतः न्यायशास्त्र विषयक उनके प्रकरणों को देख-कर ही दिवाकरजी का ध्यान जैनसाहित्य की इस कमी की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने न्यायावतार नामक प्रकरण को रचकर जैनसाहित्य में सर्वप्रथम न्याय का अवतार करने का श्रेय प्राप्त किया। इस छोटे से प्रकरण में दिवाकरजी ने प्रमाण की चर्चा की है। उन्होंने समन्तभद्रोक्त प्रमाण के लक्षण में ‘वादविवर्जित’ पद को स्थान दिया और उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करके दोनों की परिभाषा बतलाई। यद्यपि स्वामी समन्तभद्र ने सर्वज्ञ-सिद्धि में अनुमान का उपयोग किया था किन्तु अनुमान प्रमाण की परिभाषा और उसका स्वार्थ और परार्थ के भेद से विभाजन, जैनवौङ्मय में सबसे पहले न्यायावतार में ही मिलता है। और इसी लिये इसका ‘न्यायावतार’ नाम सार्थक है, क्योंकि न्यायशब्द का पारिभाषिक अर्थ परार्थानुमान ही किया गया है। परार्थानुमान के साथ ही साथ पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, दृष्टण और तदाभासों का संज्ञित विवेचन भी इस प्रन्थ में किया गया है। इस प्रकार

१ देखो, आसमीमासा। २ “स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि हुदिल्लक्षणम्।” स्वर्यभूतो० इलो० ६३। ३ “उपेश्वाकलमादस्य शेषस्पादानहनथीः॥ १०२॥” आ० मी० ४ आ०मी० कारि० १०४। ५ आ० मी० कारि० १०६। ६ आ० मी० कारि० १०८। ७ स्वर्यभूतो० इलो० १०३। ८ तत्र नातु-पलब्धेन निर्णयितेर्जन्याः प्रवर्तते, किन्तुहि ? संशयितेऽर्थं॥ न्यायो० भा० १-१-१ दिव्यनाम ने परार्थानुमान के पौँच अवयवों को ‘न्यायावयव’ लिखा है। विद्याभूषण का ‘इन्दियनलैंजिक’ पृ० ४२।

श्री सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायोपयोगी तत्त्वों का समावेश करके जैनसाहित्य में न्याय पर स्वतंत्र प्रकरण लिखने की पद्धति को जन्म दिया।

अकलद्वादेव के पहले पात्रकैसरि श्रीदत्त आदि अन्य भी कई जैनाचार्य हुए हैं जिन्होंने त्रिलक्षणकदर्थन, जल्पनिर्णय आदि ग्रन्थों को रचकर जैन्य न्याय के अन्य अंगों का विकास किया था। किन्तु उनका साहित्य उपलब्ध न होने के कारण उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना संभव नहीं है। अतः उपलब्ध साहित्य के आधार पर स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर ने जैन-न्याय की दिशा में प्रांशनीय उद्योग किया और उन्हीं के द्वारा किये गये शिलान्यास के आधार पर कुशल शिल्पी अकलंक ने जैनन्याय के भव्य प्राप्ताद का निर्माण किया।

स्पष्टीकरण के लिये जैनन्याय के दो विभाग किये जा सकते हैं—एक विशेष और दूसरा सामान्य। विशेष विभाग का सम्बन्ध जैनन्याय के उन मन्तव्यों से है जो केवल जैनों की अनेकान्तव्यहृषि से ही सम्बन्ध रखते हैं और इसलिये एकान्तवादी दर्शनों में उनके लिये कोई स्थान नहीं है। और सामान्य विभाग का सम्बन्ध न्यायशास्त्र के उन मन्तव्यों से है जिनके कारण ही न्याय न्याय कहा जाता है। प्रथम विभाग में स्याद्वाद, नयवाद और सप्तभंगीवाद का समावेश है और दूसरे में प्रमाणवाद, विशेषतया अनुमानप्रमाण और उसके परिकर हेतु हेत्वाभास आदि का। स्वामी समन्तभद्र ने प्रथम विभाग पर लेखनी चलाई और उसका ऐसा साझोपाझ निरूपण किया कि बाद के लेखकों को उसके सम्बन्ध में विशेष लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इसका यह आशय नहीं है कि समन्तभद्र के बाद के प्रन्थकारों ने स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा, उन्होंने लिखा और खूब लिखा, किन्तु उनके लेख से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे उक्त विषय में कुछ नूतन वृद्धि कर रहे हैं या उन्होंने किसी ऐसे नूतन सिद्धान्त का समावेश उसमें किया है जो समन्तभद्र के वर्णन में नहीं था। हाँ, ऐसे कुछ तत्त्व अवश्य मिलते हैं, जो समन्तभद्र के लेख में अव्यक्त थे और बाद के लेखकों ने उन्हें अव्यक्त किया। जैसे प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी का अस्पष्टसा उल्लेख समन्तभद्र और सिद्धसेन के प्रकरणों में मिलता है, अकलंकदेव ने उसे स्पष्ट करके सप्तभंगी के दो विभाग कर दिये। सिद्धसेन दिवाकर ने न्याय के पहले विभाग के साथ ही साथ दूसरे विभाग पर भी लेखनी बठाई। और जैसा कि लिखा जा चुका है इस दिशा में उनका यह प्रथम ही प्रयास था। अकलंकदेव के समय में भारतीय न्यायशास्त्र में बहुत उत्तित हो चुकी थी, बौद्धदर्शन के पिता दिङ्गनाग के अस्त के बाद धर्मकीर्ति का अभ्युत्थान हो रहा था, बौद्धदर्शन का मध्याह्नकाल था, शास्त्रार्थों की धूम थी, शास्त्रार्थों में उपयोग किये जानेवाले परार्थनुमान, छल, जाति, निग्रहस्थाव आदि अच्छ-श्लोकों के सञ्चालन में निपुण हुए बिना विजय पाना दुर्लभ था, तथा यदि शास्त्रार्थ के मध्य में उपेतत्त्व पर बाद-विवाद होते होते उपायतत्त्व पर भी बाद-विवाद होने लगे तो उस पर भी अपना शास्त्रीय अभिमत प्रकट करना आवश्यक था। ऐसी परिस्थिति में जैन-न्याय के उत्तराधिकारी के रूप में अकलंकदेव को जो निधि मिली, वह उस समय के लिये पर्याप्त नहीं थी। विपक्षीदल ने अपनी विरासत को खूब समृद्ध बना लिया था, तथा कुछ ऐसे उपायों का भी आविष्कार किया गया था जिनसे न्याय की हत्या हो रही थी, अतः न्याय का

१ तत्त्वज्ञाने प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम् । क्रमभावि च यज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥ आपसमीक्षा  
२ न्यायानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि । संपूर्णार्थविनिश्चयि स्याद्वादशुतमुच्यते ॥ ३० ॥ न्यायावतार

शोधन और अन्याय का परिमार्जन करने के लिये यह आवश्यक था कि वीर प्रभु के अनेकान्तवाद और अहिंसावाद के आधार पर सदुपार्यों की स्थापना की जाये और एकान्तवादियों के द्वारा अनेकान्तवाद पर किये गये आक्रमणों से उसकी रक्षा करने में उनका उपयोग किया जाये।

अकलंकदेव ने इस आवश्यकता और कमी का अनुभव किया और उसे पूर्ण करने में अपनी समस्त शक्ति लगाई। सब से पहले उनका ध्यान जैनदर्शन की प्रमाणपद्धति की ओर आकर्षित हुआ। जैनदर्शन में प्रमाण के मूलभेद दो हैं एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। और उनकी सहायता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें प्रारम्भ के दो ज्ञान केवल रूपीपदार्थों को ही जान सकते हैं इसलिये इन्हें विकलप्रत्यक्ष के नाम से भी कहा जाता है। किन्तु केवलज्ञान त्रिकालवर्ती रूपी अरूपी प्रत्येक वस्तु को जान लेता है अतः इसे सकलप्रत्यक्ष भी कहते हैं। परोक्ष के दो भेद हैं मति और श्रुति। ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं। जैनर्थमें प्रमाणपद्धति की यही प्रचीन परम्परा है। इस प्राचीन परम्परा में आचार्य उमास्वाति ने थोड़ा सा विकास किया। उन्होंने अपने समय के प्रचलित स्मृति, संज्ञा (प्रत्य- भिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिवोध (अनुमान) प्रमाणों का अन्तर्भूत मतिज्ञान में करके जैनदर्शन में तार्किक प्रमाणपद्धति को स्थान दिया। इस कार्य में सूत्रकार ने बहुत दूरदर्शिता से काम लिया, कारण, जैनप्रमाणपरम्परा की प्रक्रिया और उसके नाम इतने विलक्षण थे कि इतर दार्शनिकों से उनका मेल खाना असम्भव था, तथा उसमें न्यायदर्शन के अनुमान उमास्वाति आदि प्रमाणों का संकेत तक भी न था और चर्चा बार्ता में इन्हीं का प्रयोग बहुतायत से होता था। अतः इतर प्रमाणों का समन्वय करने की आवश्यकता संभवतः सूत्रकार के समय में उतनी न रही ही जितनी उनके उत्तराधिकारियों को हुई। उमास्वाति ने तार्किक परम्परा को मतिज्ञान में अन्तर्भूत करके अपने उत्तराधिकारियों को मार्गप्रदर्शन तो कर दिया किन्तु उससे प्रमाणपद्धति की गुणित्वां नहीं सुलझ सकीं। सब से प्रबल समस्या यी इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष कहने की और उसके मतिज्ञान नाम की। जैनों के सिवाय किसी भी दार्शनिक ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष नहीं माना, सब उसे प्रत्यक्ष ही मानते थे। तथा उसका यह मति-ज्ञान नाम भी सब के लिये एक अजीब ही गोरखधनवा था। यदि एक आधा दार्शनिक भी जैनों की इस परिभाषा और नाम में उनका सहयोगी होता तो भी एक और एक मिलकर दो हो जाते, किन्तु यहाँ तो अपने राम अकेले ही थे। इसलिये जिस किसी भी दार्शनिक के समक्ष ये अजीब बातें उपस्थित होतीं वही उनके उपस्थित कर्ता को नवकृत बनाता।

**संभवतः** दिवाकरजी के सन्मुख भी यह समस्या उपस्थित हुई थी इसी से न्यायावतार में प्रमाण के भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष की कुछ अजीब सी परिभाषा करने के बाद किसी के भेद प्रभेद बतलाये बिना केवल शाब्दप्रमाण और अनुमानप्रमाण का ही निरूपण उन्होंने किया है।

अकलंकदेव ने इस तथा अन्य समस्याओं को बहुत ही सुन्दर रीति से हल करके प्रमाण-विषयक गुणित्वों को सर्वदा के लिये सुलझा दिया। उन्होंने अपनी प्रमाणशैली का आधार तो वही स्थिर रखवा जो उमास्वाति ने अपनाया था। तत्त्वार्थसूत्र के 'तप्रमाणे' सूत्र को आदर्श मानकर उन्होंने भी प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही भेद किये। किन्तु प्रत्यक्ष के विकल-

प्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष के स्थान में 'सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष और मुख्यप्रत्यक्ष' इस प्रकार दो भेद किये, और इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि में से निकाल कर और सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर दिया। इस परिवर्तन से प्राचीन परम्परा को भी कोई क्षति नहीं पहुँची और विषपक्षी दार्शनिकों को भी छोड़कर करने का स्थान नहीं रहा, क्योंकि प्राचीन परम्परा इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कहती थी और इतर दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष कहते थे। किन्तु उसे सांव्यवहारिक अर्थात् पारमार्थिक नहीं किन्तु लौकिकप्रत्यक्ष नाम दे देने से न तो जैनाचार्यों को ही कोई आपत्ति हो सकती थी क्योंकि परिभाषा और उसके मूल में जो दृष्टि थी वह सुरक्षित रखी गई थी, और न विषपक्षी दार्शनिक ही कुछ कह सकते थे क्योंकि नाम में ही विवाद था, प्रत्यक्ष नाम देदेने से वह विवाद जाता रहा। मति को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान लेने पर उसके सहयोगी<sup>१</sup> स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिवोध प्रमाण भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत कर लिये गये। किन्तु इन सहयोगी प्रमाणों में मन की प्रधानता होने के कारण सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष के दो भेद किये गये एक इन्द्रियप्रत्यक्ष और दूसरा अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष में मति को स्थान मिला और अनिन्द्रिय में<sup>२</sup> स्मृति आदिक को। परसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर लेने से प्रत्यक्ष की परिभाषा में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई अतः उसकी आगमिक परिभाषा के स्थान में अति संक्षिप्त और स्पष्ट परिभाषा निर्दीरित की—स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

मति स्मृति आदि प्रमाणों को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाते हुए अकलंकदेव ने लिखा है कि मति आदि प्रमाण तभी तक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं, जब तक उनमें शब्दयोजना नहीं की जाती। शब्दयोजनासापेक्ष होने पर वे परोक्ष ही कहें जायेंगे और उस अवस्था में वे श्रुतज्ञान के भेद होंगे। इस मन्तव्य से प्रमाणों की दिशा में एक नवीन प्रकाश पड़ता है और उसके उजाले में कई रहस्य स्पष्ट हो जाते हैं। अतः उनके स्थानीकरण के लिये ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करना आवश्यक है।

गौतम ने अनुमान के—स्वार्थ और परार्थ—दो भेद किये थे, किन्तु उद्योतकर से पहले नैयायिक किसी व्यक्ति को ज्ञान करने के लिये परार्थानुमान की उपयोगिता नहीं मानते थे। दिग्नाम ने दोनों भेदों का ठीक ठीक अर्थ करके सबसे पहले स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के मध्य में भेद की रेखा खड़ी की। दिवाकरजी ने परार्थानुमान को जैन न्याय में स्थान तो दिया किन्तु

<sup>१</sup> "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसांव्यवहारिकम् । परोक्षं दोषविज्ञानं प्रमाणं हति संप्रहः ॥३॥" लघीयग्रन्थ

<sup>२</sup> "आदे परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुर्जसा । केवल लोकबुद्धयैव मतेर्लक्षणसंप्रहः ॥" न्या० वि० ।

<sup>३</sup> "मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिवोध इत्यनथान्तरम् ॥" तत्त्वार्थसूत्र

<sup>४</sup> "तत्र सांव्यवहारिकं इन्द्रियानिनिद्रियप्रत्यक्षम् ।" लघी० वि० कारि० ४ ।

<sup>५</sup> "अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिवोधात्मकम् ॥" लघी० वि० का० ६१ ।

<sup>६</sup> "ज्ञानमार्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिवोधनम् । प्राङ्मानयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥" लघीयग्रन्थ

<sup>७</sup> देखो, श्री० चिरविदस्त्री का 'बुद्धिस्ट लैंगिक' ।

उसका समन्वय करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया। पूज्यपाद देवनन्द ने इस ओर ध्यान दिया और प्रमाण के स्वार्थ और परार्थ दो भेद करके श्रुतप्रमाण को उभयरूप बतलाया, अर्थात् ज्ञानात्मक श्रुतज्ञान को स्वार्थ और वचनात्मक को परार्थ कहा, किन्तु रेष मति आदि प्रमाणों को स्वार्थ ही बतलाया। अकलंकदेव ने आगमिक परम्परा और तार्किक पद्धति को हृषि में रखकर उक्त प्रश्न को दो प्रकार से सुलझाने का प्रयत्न किया। आगमिक परम्परा में तो उन्होंने पूज्यपाद का ही अनुसरण किया और श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक दो भेद करके स्वार्थप्रमाण व गैरह का अन्तर्भाव अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान में और परार्थप्रमाण वैरह का अन्तर्भाव अक्षरात्मक श्रुतज्ञान में किया। किन्तु तार्किक चेत्र में उन्हें अपने दृष्टिकोण में परिचर्वन करना पड़ा, क्योंकि श्रुतज्ञान का रूढ़ अर्थ तार्किक चेत्र में मान्य नहीं किया जा सकता था। सारल्य आदि दर्शनों में शब्दप्रमाण या आगमप्रमाण के नाम से एक प्रमाण माना गया था और वह केवल शब्दजन्य ज्ञान से ही सम्बन्ध रखता था, और श्रुतप्रमाण से भी उसी अर्थ का बोध होता था क्योंकि श्रुत का अर्थ 'सुना हुआ' होता है। अतः अकलंकदेव ने शब्दसंस्कृत ज्ञान को श्रुत और शब्द-असंस्कृत ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष निर्धारित किया जैसा कि ऊपर बतलाया गया है।

लघीयस्थय में स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिवोध प्रमाणों का अनिन्द्रियप्रत्यक्ष में जो अन्तर्भाव किया गया है, उसके मूल में केवल एक ही हृषि प्रतीत होती है और वह हृषि है सूक्ष्मकार का उन्हें मति से अनर्थात्मर बतलाना। सिद्धिविनिश्चय टीका के अबलोकन से भी यही प्रतीत होता है। अकलंक का मूल सिद्धिविनिश्चय और उसकी विवृति उपलब्ध होती तो इस सम्बन्ध में और भी विशेष प्रकाश ढाला जा सकता था। किन्तु अकलंक के प्रमुख टीकाकार अनन्तवार्थी और विद्यानन्द को न तो स्मृति<sup>१</sup> आदिक को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष मानना ही अभीष्ठ था और न वे परम्परा के विरुद्ध केवल शब्दसंस्कृत ज्ञान को ही श्रुत मानने के लिये तैयार थे। विद्यानन्द ने अपनी प्रमाणपरीक्षा में अकलंक के मतानुसार प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीनिन्द्रियप्रत्यक्ष भेद करके भी अवग्रहादि धारणापर्यान्त ज्ञान को एक देश स्पष्ट होने के कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष माना है और रेष स्थिति आदि तथा श्लोकांवार्तिक में लघीयस्थय की उक्त कारिका के मन्त्रव्य की परोक्ष ही माना है। तथा श्लोकांवार्तिक में लघीयस्थय की उक्त कारिका के मन्त्रव्य की आलोचना भी की है और 'शब्दसंस्कृत ज्ञान को ही श्रुत कहते हैं' इस परिभाषा की रचना में भर्तृहरि के शब्दाङ्कृतावाद को कारण बतलाया है, क्यों कि भर्तृहरि के मत से कोई ज्ञान में भर्तृहरि के विज्ञा नहीं हो सकता था अतः उसका निराकरण करने के लिये कहा गया है कि शब्दसंसर्ग के विज्ञा नहीं हो सकता था अतः उसका निराकरण करने के लिये कहा गया है कि शब्दसंसर्गरहित ज्ञान मति है और शब्दसंसर्गसहित ज्ञान श्रुत है। अकलंक के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये यहां यह भी बतला देना आवश्यक है कि उन्होंने प्रमाणों के स्वार्थ और परार्थ भेद को मानकर भी स्वतंत्र रूप से कहीं अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेद नहीं किये, क्योंकि उनके मत से केवल अनुमान प्रमाण ही परार्थ नहीं होता है बल्कि इतर प्रमाण भी परार्थ होते हैं और वे सब श्रुत कहे जाते हैं।

<sup>१</sup> "श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं" च, ज्ञानात्मक स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम् ॥" सर्वार्थं पूर्ण ८ ॥

२ देखो, राजवार्तिक पूर्ण ५४ । ३ "एवमनन्तरप्रत्यावद्येन अशब्दोजनं स्मरणादिश्रुतं व्याख्यातम् ।"

सिं विं ठी० पूर्ण २५३ पूर्ण । ४ पूर्ण ६८-६९ । ५ देखो 'श्रुतं मतिप्रवर्म' सूत्र की व्याख्या ।

अकलंक के प्रमाणविषयक उक्त मन्त्रणों का सार संक्षेप में इस प्रकार है—

१ प्रत्यक्ष तीन तरह का होता है इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष। इनमें प्रारम्भ के दो प्रत्यक्ष सांघ्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं और अन्तिम पारमार्थिक।

२ मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिवाव ज्ञान यदि शब्द-असंसुष्ट हो तो सांघ्यवहारिकप्रत्यक्ष के भेद हैं और यदि शब्द-संसुष्ट हों तो परोक्ष श्रुतप्रमाण के भेद जानने चाहिये।

३ दूसरों के द्वारा माने गये अर्थापत्ति, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों का अनन्तर्भाव श्रुतप्रमाण में होता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना डचित होगा कि स्मृति आदि प्रमाणों को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान को केवल शब्दसंसुष्ट कहने पर भी अकलंक को स्मृति आदि का परोक्षत्व और श्रुतज्ञान का अनश्वरत्व अभीष्ट था और उनके ग्रन्थों में इसका स्पष्ट आभास मिलता है। उत्तरवर्ती जैन नैयायिकों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को तो एक मत से सांघ्यवहारिकप्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया, किन्तु स्मृति आदि को किसी ने भी अनिन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं माना, और इस प्रकार अकलंक ने सूत्रकार के मत की रक्षा करने के लिये जो प्रयत्र किया था वह तो सफल न हो सका किन्तु उनकी शुद्ध तार्किक प्रमाणपद्धति को सब ने एक स्वर से अपनाया।

### परोक्षप्रमाण

परोक्ष प्रमाणों में, नैयायिक के उपमान प्रमाण की आलोचना करते हुए, अकलंक ने प्रत्यभिज्ञान प्रमाण के एकत्व, सादृश्य, प्रतियोगी आदि अनेक भेदों का उपपादन किया। अविनाभाव-सम्बन्ध को व्याप्ति बतलाकर उसका साकल्येन ग्रहण करने के लिये तर्कप्रमाणे की आवश्यकता सिद्ध की। साध्य और साध्याभास का स्वरूप स्थिर किया। हेतु और हेत्वाभास की व्यवस्था की। बौद्ध दार्शनिक हेतु के केवल तीन ही भेद मानते हैं स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धिः, किन्तु अकलंक ने उनके अतिरिक्त कार्यं, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर को भी हेतु स्वीकार किया, तथा बौद्धों की तरह अनुपलब्धि हेतु को केवल अभावसाधक न मानकर, उसे उभयसाधक माना।

हेत्वाभास और जाति का जो विवेचन अकलंक के प्रकरणों में मिलता है वह उससे पहले के किसी जैन ग्रन्थ में नहीं मिलता। किन्तु उसे अकलंक की देन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अकलंक ने उसे अपने पूर्वज पात्रकेसरि के 'विलक्षणकदर्थन' से लिया है। किन्तु यह: वह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है अतः अकलंक के हेत्वाभास और जाति का भी संक्षेप में दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा।

### हेत्वाभास

नैयायिक हेतु के पाँच रूप मानता है—पछार्थमत्व, सपश्चसत्व, विपश्चासत्व, अबाधितविषय और असत्रितप्रक्ष, अतः उसने पाँच हेत्वाभास माने हैं। बौद्ध हेतु को त्रैरूप्य मानता है अतः

१ लघीयस्थय का० ११, २१ को विवृति। २ लघीयस्थय का० ११। ३ न्या० विं० २-३। ४ न्या० विं० २-१७३। ५ लघी० का० १४। ६ इसके लिये देखो 'पात्रकेसरि और अकलंक' शारीक स्तम्भ। ७ नैयायिक के हेत्वाभासों पर दिङ्गाग का प्रभाव जानने के लिये प्रो० चिरावट्टकी का बुद्धिस्त लौकिक दर्शनीय है।

उसने तीन ही हेत्वाभास माने हैं—असिद्ध, विशद्ध और अनैकान्तिक। किन्तु जैन केवल एक अन्यथानुपत्ति को ही हेतु का रूप मानते हैं अतः उनका हेत्वाभास भी यथार्थ में एक ही है। किन्तु अन्यथानुपत्ति का अभाव अनेक प्रकारों से देखा जाता है अतः हेत्वाभास के भी असिद्ध, विशद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर भेद किये गये हैं। जो हेतु विरूपात्मक होने पर भी अन्यथानुपत्ति के अभाव से गमक नहीं हो सकते, उन सबको अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में गमित किया जाता है। किन्तु कोई कोई अकिञ्चित्कर को पृथक् हेत्वाभास नहीं मानते।

### जाति

मिथ्या उत्तर को जाति कहते हैं, अर्थात् वाद के समय येन केनापि प्रकारेण प्रतिवादी को पराजित करने के लिये जो असत् उत्तर दिये जाते हैं उन्हें जाति कहते हैं। अकलंक ने अपने प्रकरणों में साधारणतया आदि जातियों का वर्णन नहीं किया और ऐसा करने में वे दो हेतु देते हैं—एक तो असत् उत्तरों का कोई अन्त नहीं है और दूसरा शाश्वान्तर में उनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

### जल्प या वाद

तंत्वार्थश्लोकवार्तिक से प्रता चलता है कि आचार्य श्रीदत्त ने जल्पनिर्णय नाम से एक ग्रन्थ की रचना की थी। इससे इस विषय को भी अकलंक की देन तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु एक तो वह प्रन्थ अनुपलब्ध है और दूसरे, अकलंकदेव अपने समय के एक प्रबल वादी थे, तीसरे धर्मकीर्ति के वाद उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रतिपादन किया था अतः उसमें बहुत कुछ मौलिकतत्त्व होने की संभावना है।

न्यायदर्शीन में कथा के तीन भेद किये हैं—वाद, जल्प और वितण्डा। न्यायसूत्रकार के मत से वीतराग कथा को वाद और विजिगीषुकथा को जल्प और वितण्डा कहते हैं। किन्तु अकलंकदेव जल्प और वाद में अन्तर न मानकर वाद को भी विजिगीषुकथा में ही सम्मिलित करते हैं। और वास्तव में लोकप्रसिद्धि से भी यही प्रमाणित है, क्योंकि गुरु-शिष्य की वीत-रागकथा को कोई वाद नहीं कहता। दो वादियों के बीच में जब किसी वात को लेकर नियमानुसार पक्ष और प्रतिपक्ष की चर्चा छिड़ती है तभी वाद शब्द का प्रयोग किया जाता है। न्यायसूत्रकार ने जल्प वितण्डा को विजिगीषुकथा मानकर, प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिये छल जाति आदि असदुपायों का अवलम्बन करने का भी निर्देश किया है। किन्तु धर्मकीर्ति और अकलंक एक स्वर से इसका विरोध करते हैं। वाद को चतुरज्ञ कहा जाता

१ “अन्यथादेवभासादेवात् स बहुधा स्वतःः ।

विशद्दसिद्धसंदिग्धकिञ्चित्करविस्तरैः ॥” न्या० विं० २-१९६ ।

२ “अन्यथानुपपत्तवात्वरहिताः ये विलक्षणाः ।

अकिञ्चित्करकाः संबोः तारूः वर्यं संविरामहे ॥” न्या० विं० २-२०१ ।

३ “असदुत्तराणामानन्यात् शास्त्रै वा वितरोचितः ।

साधम्यादेवसमयेन जातिर्नहै प्रत्यन्थते ॥” न्या० विं० २-२०६ ॥

दिल्लीजा० ने भी ‘इस प्रकार के असदुत्तर अनन्त होते हैं’ लिखकर जातियों का वर्णन करने से विशेष तत्परता नहीं दिखलाई। दुर्दिस्ट लॉजिक (चिरविद्यकी) पू० ३४२। ४ पू० २८८, का० ४५।

है क्योंकि उसके चार अङ्ग होते हैं—वादी, प्रतिवादी, सम्भय और सभापति । अकलंकदेवं ने सभापति के स्थान में राजा को वाद का अङ्ग माना है । इससे यही आशय व्यक्त होता है कि अध्यक्ष के आसन पर शक्तिशाली शास्त्रज्ञ पुरुष स्थित होना चाहिये जो वादी और प्रतिवादी को असद् उपायों का अवलम्बन करने से रोक सके ।

जल्य और वाद को एक मान लेने से केवल एक वितण्डा ही शेष रह जाता है । वितण्डा-कथा में वादी और प्रतिवादी अपने अपने अपने पक्ष का समर्थन न करके केवल प्रतिपक्षी का खण्डन करने में ही लगे रहते हैं । अतः अककङ्क ने उसे वादाभास कहा है । क्योंकि वाद में स्वपक्षस्थापन और परपक्ष-दूषण, दोनों का होना आवश्यक है ।

वाद में सबसे मुख्य प्रश्न जय और पराजय की व्यवस्था का है । प्रतिपक्षी को नियुक्ति करने के लिये न्यायदर्शन में २२ नियन्त्रणानों की व्यवस्था की गई है । और धर्मकीर्ति ने वादी और प्रतिवादी के लिये एक एक नियन्त्रण आवश्यक माना है । यदि वादी अपने पक्ष को सिद्धि करते हुए किसी ऐसे अङ्ग का प्रयोग कर जाये जो 'असाधनाङ्ग' माना गया है या साधनाङ्ग को न कहे तो वह नियुक्ति हो जाता है । इसी प्रकार वादी के अनुमान में दूषण देते हुए यदि प्रतिवादी किसी दोष का उद्घावन न कर सके या अदोष का उद्घावन करे तो वह नियुक्ति कर दिया जाता है । अकलंक ने धर्मकीर्ति का खण्डन करते हुए इस प्रकार के नियन्त्रण को अनुचित बतलाया है । वे कहते हैं—“वाद का उद्देश्य तत्त्वनिर्णय है । यदि वादी अपने पक्ष का साधन करते हुए कुछ अधिक कह जाता है या प्रतिवादी अपने पक्ष की सिद्धि करके वादी के किसी दोष का उद्घावन नहीं कर सकता तो वे नियुक्ति नहीं कहे जा सकते । कहा-बत प्रसिद्ध है—‘स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावात्’ । प्रमाण के बल से प्रतिपक्षी के अभिप्राय को नियुक्त कर देना ही सम्भय् नियन्त्रण है । अतः जो वादी समीचीन युक्तिबल के द्वारा अपने पक्ष को सम्भयों के चित्त में अड़ित कर देने में पड़ देता है उसी की ही विजय मानना चाहिये, और जो चुप हो जाता है या अंट संठ बोलता है वह पराजित समझा जाना चाहिए ।”

इस प्रकार स्वाधिगम और पराधिगम के नियन्त्रणमूरू प्रमाणों की व्यवस्थापना करके अकलंकदेव ने जैन न्यायशास्त्र को सुव्यवस्थित और सुसम्बद्ध किया । इसके अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक, सांख्यग्रन्थ, मीमांसक, वैयाकरण और बौद्ध दर्शन के विविध मन्त्रनामों पर सर्वप्रथम लेखनी चढ़ाकर अपने उत्तराधिकारियों का मार्ग प्रशस्त किया ।

### अकलंक और इतर आचार्य

हम ऊपर बतला आये हैं कि अकलंक के पहले जैनन्याय की क्या रूपरेखा थी और उन्होंने उसमें किन किन सिद्धान्तों को सम्मिलित करके उसे पूर्ण और परिष्कृत बनाया था । तथा यह भी लिख आये हैं कि उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनका अनुसरण किया है । इन बातों पर विशेष प्रकाश डालने के लिये पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती जैनतर आचार्यों के साथ अकलंक के साहित्यिक सम्बन्ध की समीक्षा करना दर्शनशास्त्र के अभ्यासियों के लिये विशेष रुचिकर होगा और उससे वे जान सकेंगे कि साहित्य पर पूर्ववर्ती साहित्य का क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है

१ सिद्धिविनिः टी० पृ० २५६ उ० । २ न्या० विं० २-२१४ ।

३ असाधनाङ्गवचन और अदोषोऽद्घावन के विविध अर्थों के लिये वादन्याय देखना चाहिये ।

४ अष्टशती, अष्टस० पृ० ८१ तथा न्या० विं० २-२०७, ९ ।

तथा उसकी रचना में उसके समकालीन तथा पूर्वकालीन विचारों का कहाँ तक हाथ रहता है ? अतः जैन तथा जैनेतर आचार्यों के साथ अकलंक के साहित्यिक सम्बन्ध की समीक्षा क्रमशः की जाती है ।

### अकलंक और जैनाचार्य

**कुन्दकुन्द और अकलंक—**कुन्दकुन्द सैद्धान्तिक थे और उनके समय में तर्कशैली का विकास भी न हो सका था । किन्तु उनने प्रवचनस्थार नामक ग्रन्थ में उन्होंने द्रव्यात्मयोग का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है और उसमें उनकी तार्किक प्रतिवाद झलकती है । अकलंकदेव ने अपने राजवार्तिक और अष्टशती में द्रव्य, गुण, पर्याय और उपाद, व्यय, ग्रीव्य की जो चर्चा की है वह कुन्दकुन्द का ही अनुसरण करते हुए की है । कुन्दकुन्द लिखते हैं—“द्रव्य ही सत्ता है, सत् और द्रव्य दो पृथक् पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं ।” इसी बात को प्रकारान्तर से दोहराते हुए अकलंक भी कहते हैं—“द्रव्य चेत्र काल और भाव सत्ता के ही विशेष हैं, सत्ता ही द्रव्य है, सत्ता ही चेत्र है, सत्ता ही काल है और सत्ता ही भाव है ।” कुन्दकुन्द लिखते हैं—“उपाद व्यय और ग्रीव्य पर्यायों में होते हैं और पर्याय द्रव्यस्वरूप हैं अतः द्रव्य ही उपादव्यय-ग्रीव्यात्मक है ।” इस सीधीसी बात को तार्किकहृषि से पल्लवित करते हुए अकलंक लिखते हैं—“उपित्तु ही नष्ट होता है, नश्वर ही स्थिर रहता है और स्थिर ही उपनन्द होता है । और यतः द्रव्य और पर्यायें अभिन्न हैं अतः—स्थिति ही उपनन्द होती है, विनाश ही स्थिर रहता है, और उपत्ति ही नष्ट होती है ।” अष्टशती की व्याख्या करते हुए विद्यानन्द ने इस प्रकरण में ‘तथाचोर्त्त’ कार्ये कुन्दकुन्द के पञ्चार्थिकाय के एक गाँथा की संस्कृत छाया उद्घृत की है । इससे प्रतीत होता है कि विद्यानन्द भी अकलंकदेव को उक्त विवेचन के लिये कुन्दकुन्द का छापी समझते थे । अतः अकलंक कुन्दकुन्द के अनुयायी थे और उनके ग्रन्थों का उनपर अच्छा प्रभाव था ।

उपास्वाति और अकलंक—दिगम्बरसमाज में आचार्य उपास्वाति, उपास्वामी नाम से भी प्रसिद्ध हैं । इन्होंने सबसे पहले जैनवाङ्मय को सूत्रलूप में निबद्ध करके तत्वार्थसूत्र की रचना की थी । वर्तमान में इस सूत्रग्रन्थ के दो पाठ पाये जाते हैं । एक पाठ दिगम्बर सूत्रपाठ कहलाता है और दूसरा श्वेताम्बर । दिगम्बर सूत्रपाठ के ऊपर अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक बृहद् ग्रन्थ की रचना की है । इस ग्रन्थ में उन्होंने स्थान स्थान पर श्वेताम्बर सूत्र-पाठ की आलोचना भी की है । अकलंकदेव ने उपास्वाति के द्वारा निर्दिष्ट प्रमाणपद्धति का कितना और कैसा अनुसरण किया है यह हम पहले बतला आये हैं । उनके प्रमाणविषयक प्रकरणों का आधार ‘तप्तमाणे’ सत्र है और ‘प्रमाण इति संप्रह’ लिखकर प्रत्येक प्रकरण में उन्होंने उक्त सूत्र का निर्देश किया है ।

१ “तम्हा दब्बं संयं सत्ता ॥” २-१३ ॥ प्रवचनसार

२ “सौत्रै विविष्टते द्रव्यवेत्रकालभावत्मना ।” अष्टशती, अष्टस० पृ० ११३ ।

३ “उपादद्विदिभंग विजज्ञते पञ्जएु, पञ्जाया ।

४ दब्बं हि संति यिवदं तम्हा दब्बं हव्विदं सत्त ॥” २-६ ॥ प्रवच ॥

५ “उत्पित्तुरेव विनश्यति, नश्वर एव निश्चिति, स्थात्युरेवात्पयते ।” अष्टश० अष्टस० पृ० ११२ ।

६ अष्टसहस्री पृ० ११३ । ७ गा० ८ ।